

Chapter आठ

ध्रुव महाराज का गृहत्याग और वनगमन

मैत्रेय उवाच

सनकाद्या नारदश्च ऋभुर्हंसोऽरुणिर्यतिः ।

नैते गृहान्ब्रह्मसुता ह्यावसन्नूर्ध्वरेतसः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय ने कहा; सनक-आद्याः—सनक इत्यादि; नारदः—नारद; च—तथा; ऋभुः—ऋभु; हंसः—हंस; अरुणिः—अरुणि; यतिः—यति; न—नहीं; एते—ये सब; गृहान्—घर पर; ब्रह्म-सुताः—ब्रह्मा के पुत्र; हि—निश्चय ही; आवसन्—निवास किया; ऊर्ध्व-रेतसः—नैष्ठिक ब्रह्मचारी ।

मैत्रेय ऋषि ने कहा : सनकादि चारों कुमार और नारद, ऋभु, हंस, अरुणि तथा यति—ब्रह्मा के ये सारे पुत्र घर पर न रहकर (गृहस्थ नहीं बने) नैष्ठिक ब्रह्मचारी हुए ।

तात्पर्य : ब्रह्मा के जन्म काल से ही ब्रह्मचर्य प्रणाली चली आ रही है। जनसंख्या का एक भाग, विशेष रूप से पुरुष, ब्याह नहीं करता था। ऐसे पुरुष वीर्य का स्खलन न करके उसे मस्तिष्क की ओर ले जाते थे। वे ऊर्ध्वरेतसः अर्थात् ऊपर उठाने वाले कहलाते हैं। वीर्य इतना महत्त्वपूर्ण है कि यदि कोई इसे योग द्वारा मस्तिष्क तक ले सकता है, तो वह अद्भुत कार्य कर सकता है—यथा स्मरणशक्ति अत्यन्त तीव्र हो जाती है और आयु बढ़ जाती है। इस प्रकार से योगी सभी प्रकार की तपस्याएँ अधिक स्थिरता से कर सकते हैं और सर्वोच्च सिद्धावस्था को, यहाँ तक कि वैकुण्ठ लोक को, प्राप्त कर सकते हैं। इस प्रकार ब्रह्मचर्य-जीवन बिताने वालों के ज्वलन्त उदाहरण हैं—सनक, सनन्दन, सनातन तथा सनत्कुमार नामक चार मुनि, और नारद तथा अन्य ।

यहाँ अन्य महत्त्वपूर्ण पदांश है—नैते गृहान् ह्यावसन्—“वे घर में नहीं रहे।” गृह का अर्थ ‘घर’ तथा ‘पत्नी’ दोनों होता है। वस्तुतः ‘घर’ का अर्थ है गृहिणी या पत्नी। इसका अर्थ ईंट-पत्थर का बना घर नहीं। जो अपनी पत्नी के साथ रहता है, वह घर में ही रहता है, अन्यथा ब्रह्मचारी या संन्यासी तो घर में रहता ही नहीं, भले ही वह किसी घर के कमरे में रहे। “वे घर में नहीं रहे” का अर्थ है कि उन्होंने पत्नी स्वीकार नहीं की, अतः उनके वीर्यपात का प्रश्न ही नहीं उठता। वीर्य का पात तभी होता है जब घर हो, पत्नी हो और सन्तान उत्पन्न करने की अभिलाषा हो, अन्यथा वीर्यस्खलन आवश्यक नहीं। इन नियमों का सृष्टि के आदि काल से पालन होता रहा है और ऐसे ब्रह्मचारियों ने कभी भी

सन्तान उत्पन्न नहीं की। यह आख्यान मनु की पुत्री प्रसूति से उत्पन्न ब्रह्मा के वंशजों के विषय में था। प्रसूति की पुत्री दाक्षायणी अथवा सती थी जिसके विषय में दक्ष यज्ञ की कथा कही गई। मैत्रेय अब ब्रह्मा के पुत्रों की सन्तति के विषय में बता रहे हैं। ब्रह्मा के अनेक पुत्रों में से सनकादि ब्रह्मचारी थे तथा नारद ने ब्याह नहीं किया, अतः इनकी संततियों के इतिहास के वर्णन का प्रश्न ही नहीं उठता।

मृषाधर्मस्य भार्यासीदम्भं मायां च शत्रुहन् ।
असूत मिथुनं तत्तु निरृतिर्जगृहेऽप्रजः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

मृषा—मृषा; अधर्मस्य—अधर्म का; भार्या—स्त्री; आसीत्—थी; दम्भम्—झूठा गर्व; मायाम्—ठगना; च—तथा; शत्रु-हन्—हे शत्रुओं के संहारक; असूत—उत्पन्न किया; मिथुनम्—जुड़वाँ; तत्—वह; तु—लेकिन; निरृतिः—निरृति; जगृहे—ग्रहण किया; अप्रजः—सन्तानहीन।

ब्रह्मा का अन्य पुत्र अधर्म था जिसकी पत्नी का नाम मृषा था। उनके संयोग से दो असुर हुए जिनके नाम दम्भ अर्थात् धोखेबाज तथा माया अर्थात् ठगिनी थे। इन दोनों को निरृति नामक असुर ले गया, क्योंकि उसके कोई सन्तान न थी।

तात्पर्य : यहाँ पर ज्ञात होता है कि ब्रह्मा के अधर्म नाम का भी एक पुत्र था जिसने अपनी बहन मृषा के साथ विवाह कर लिया। भाई तथा बहन के बीच विषयी जीवन का यह सूत्रपात है। मानव समाज में ऐसा अस्वाभाविक संयोग वहीं सम्भव है जहाँ अधर्म हो। यह पता चलता है कि सृष्टि के प्रारम्भ में ब्रह्मा ने न केवल सनक, सनातन तथा नारद जैसे साधु पुत्र उत्पन्न किये, वरन् निरृति, अधर्म, दम्भ तथा मृषा नामक आसुरी सन्तानें भी उत्पन्न कीं। प्रारम्भ में ब्रह्मा ने प्रत्येक वस्तु की सृष्टि की। नारद के सम्बन्ध में कहा जाता है कि उनके पूर्व जीवन पवित्र था और उनकी संगति अच्छी थी अतः वे नारद के रूप में उत्पन्न हुए। अन्य पुत्र भी अपनी क्षमता तथा पृष्ठभूमि के अनुसार उत्पन्न हुए थे। कर्म का नियम जन्म-जन्मांतर तक चलता है और जब नवीन सृष्टि होती है, तो वही कर्म जीवात्माओं के साथ वापस चला आता है। ये सभी अपने-अपने कर्म के अनुसार विभिन्न क्षमताओं के साथ उत्पन्न हुए, यद्यपि उनके आदि पिता ब्रह्मा हैं, जो भगवान् के गुण-अवतार हैं।

तयोः समभवल्लोभो निकृतिश्च महामते ।

ताभ्यां क्रोधश्च हिंसा च यदुरुक्तिः स्वसा कलिः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

तयोः—वे दोनों; समभवत्—उत्पन्न हुए; लोभः—लोभ, लालच; निकृतिः—चालाकी; च—तथा; महा-मते—हे महापुरुष; ताभ्याम्—उन दोनों से; क्रोधः—क्रोध; च—तथा; हिंसा—हिंसा; च—तथा; यत्—जिन दोनों से; दुरुक्तिः—कटु वचन; स्वसा—बहन; कलिः—कलि।

मैत्रेय ने विदुर से कहा : हे महापुरुष, दम्भ तथा माया से लोभ और निकृति (चालाकी) उत्पन्न हुए। उनके संयोग से क्रोध और हिंसा और फिर इनकी युति से कलि तथा उसकी बहिन दुरुक्ति उत्पन्न हुए।

दुरुक्तौ कलिराधत्त भयं मृत्युं च सत्तम ।

तयोश्च मिथुनं जज्ञे यातना निरयस्तथा ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

दुरुक्तौ—दुरुक्ति से; कलिः—कलि; आधत्त—उत्पन्न किया; भयम्—भय; मृत्युम्—मृत्यु; च—तथा; सत्-तम—हे उत्तम पुरुषों में श्रेष्ठ; तयोः—उन दोनों के; च—तथा; मिथुनम्—संयोग से; जज्ञे—उत्पन्न हुए; यातना—अत्यधिक पीड़ा; निरयः—नरक; तथा—और भी।

हे श्रेष्ठ पुरुषों में महान्, कलि तथा दुरुक्ति से मृत्यु तथा भीति नामक सन्तानें उत्पन्न हुईं। फिर इनके संयोग से यातना और निरय (नरक) उत्पन्न हुए।

सङ्ग्रहेण मयाख्यातः प्रतिसर्गस्तवानघ ।

त्रिः श्रुत्वैतत्पुमान्युपयं विधुनोत्यात्मनो मलम् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

सङ्ग्रहेण—संक्षेप में; मया—मेरे द्वारा; आख्यातः—कहा गया है; प्रतिसर्गः—प्रलय का कारण; तव—तुम्हारा; अनघ—हे शूद्ध; त्रिः—तीन बार; श्रुत्वा—सुनकर; एतत्—वर्णन; पुमान्—वह जो; पुण्यम्—पुण्य; विधुनोति—धो देता है; आत्मनः—आत्मा का; मलम्—मल, कल्मष।

हे विदुर, मैंने संक्षेप में प्रलय के कारणों का वर्णन किया। जो इस वर्णन को तीन बार सुनता है उसे पुण्य लाभ होता है और उसके आत्मा का पापमय कल्मष धुल जाता है।

तात्पर्य : सृष्टि की उत्पत्ति सत् के आधार पर होती है, किन्तु उसका विनाश अधर्म से होता है। यही भौतिक सृष्टि तथा विनाश की गति है। यहाँ बताया गया है कि विनाश का कारण अधर्म है। अधर्म तथा मृषा से क्रमशः दम्भ, माया, लोभ, निकृति (चालाकी), क्रोध, हिंसा, कलि, दुरुक्ति, मृत्यु, भीति, यातना तथा निरय उत्पन्न हुए। ये सारे वंशज विनाश के प्रतीक बतलाये गये हैं। यदि मनुष्य पवित्र है और इन विनाश के कारणों के सम्बन्ध में सुनता है तो इनके प्रति घृणा करेगा और इससे उसके पुण्य

जीवन में प्रगति होगी। पुण्य हृदय को विमल करने की विधि का सूचक है। जैसाकि भगवान् चैतन्य ने कहा है, जब मनुष्य अपने मन-दर्पण की धूल साफ कर लेता है, तब वह मुक्ति पथ पर आगे बढ़ सकता है। यहाँ भी वही विधि बताई गई है। *मलम्* का अर्थ है 'कल्मष'। हमें चाहिए कि विनाश के समस्त कारणों से घृणा करना सीखें जिनमें अधर्म तथा मृषा प्रारम्भिक हैं, तभी हम पुण्य जीवन में अग्रसर हो सकेंगे। तब हमारे लिए कृष्णभावनामृत ग्रहण कर सकना सरल होगा और हम बारम्बार विनाश के भागी नहीं होंगे। अभी का जीवन, जन्म-मृत्यु का चक्र है, किन्तु यदि हम मुक्ति-पथ ढूँढ़ें तो बार-बार के इस त्रास से बच सकते हैं।

अथातः कीर्तये वंशं पुण्यकीर्तेः कुरुद्वह ।

स्वायम्भुवस्यापि मनोहीरंशांशजन्मनः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

अथ—अब; अतः—इसके बाद; कीर्तये—वर्णन करूँगा; वंशम्—वंश; पुण्य-कीर्तेः—पुण्य गुणों के लिए विख्यात; कुरु-उद्धह—हे कुरुश्रेष्ठ; स्वायम्भुवस्य—स्वायंभुव का; अपि—भी; मनोः—मनु का; हरेः—श्रीभगवान् का; अंश—विस्तार; अंश—का भाग; जन्मनः—जन्मा हुआ।

मैत्रेय ने आगे कहा : हे कुरुश्रेष्ठ, अब मैं आपके समक्ष स्वायंभुव मनु के वंशजों का वर्णन करता हूँ जो भगवान् के अंशांश के रूप में उत्पन्न हुए थे।

तात्पर्य : ब्रह्मा भगवान् के शक्ति सम्पन्न अंश हैं। यद्यपि ब्रह्मा जीव-तत्त्व हैं, किन्तु उन्हें भगवान् से शक्ति प्राप्त है, अतः वे उनके अंश माने जाते हैं। कभी-कभी ऐसा होता है कि जब कोई ऐसा उपयुक्त जीव नहीं रहता जिसे ब्रह्मा नियुक्त किया जा सके, तो भगवान् स्वयं ब्रह्मा रूप में प्रकट होते हैं। ब्रह्मा भगवान् के अंश हैं और स्वायंभुव मनु ब्रह्मा के प्रत्यक्ष पुत्र थे। अब मैत्रेय मुनि मनु के उन वंशजों के विषय में बताने जा रहे हैं, जो सब के सब अपने पुण्यकर्मों के कारण विख्यात हुए हैं। इन पवित्र वंशजों के वर्णन के पूर्व वे अपवित्र कर्मोवाले वंशजों का, जिनमें क्रोध, मृषा, दुरुक्ति, हिंसा, भय तथा मृत्यु मुख्य हैं, पहले ही वर्णन कर चुके हैं। अतः वे सोदेश्य ही आगे ध्रुव महाराज का जीवन-इतिहास बताने जा रहे हैं, जो इस विश्व का सबसे बड़ा पुण्यात्मा राजा था।

प्रियव्रतोत्तानपादौ शतरूपापतेः सुतौ ।

वासुदेवस्य कलया रक्षायां जगतः स्थितौ ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

प्रियव्रत—प्रियव्रत; उत्तानपादौ—उत्तानपाद; शतरूपा-पतेः—रानी शतरूपा तथा उनके पति का; सुतौ—दो पुत्र; वासुदेवस्य—भगवान् का; कलया—अंश से; रक्षायाम्—रक्षा के लिए; जगतः—संसार के; स्थितौ—पालन के लिए।

स्वायंभुव मनु को अपनी पत्नी शतरूपा से दो पुत्र हुए जिनके नाम थे—उत्तानपाद तथा प्रियव्रत। चूँकि ये दोनों श्रीभगवान् वासुदेव के अंश के वंशज थे, अतः वे ब्रह्माण्ड का शासन करने और प्रजा का भलीभाँति पालन करने में सक्षम थे।

तात्पर्य : यह बताया गया है कि उत्तानपाद तथा प्रियव्रत नामक दोनों राजाओं को भगवान् से विशेष बल प्राप्त था, जब कि महाराज ऋषभ को जो स्वयं भगवान् थे ऐसा बल प्राप्त नहीं था।

जाये उत्तानपादस्य सुनीतिः सुरुचिस्तयोः ।

सुरुचिः प्रेयसी पत्युर्नेतरा यत्सुतो ध्रुवः ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

जाये—दोनों पत्नियों के; उत्तानपादस्य—उत्तानपाद की; सुनीतिः—सुनीति; सुरुचिः—सुरुचि; तयोः—उन दोनों से; सुरुचिः—सुरुचि; प्रेयसी—अत्यन्त प्रिय; पत्युः—पति की; न इतरा—दूसरी वाली नहीं; यत्—जिसका; सुतः—पुत्र; ध्रुवः—ध्रुव।

उत्तानपाद के दो रानियाँ थीं—सुनीति तथा सुरुचि। इनमें से सुरुचि राजा को अत्यन्त प्रिय थी। सुनीति, जिसका पुत्र ध्रुव था, राजा को इतनी प्रिय न थी।

तात्पर्य : मैत्रेय राजाओं के पुण्य कार्यों का वर्णन करना चाह रहे थे। स्वायंभुव मनु के प्रथम पुत्र प्रियव्रत थे और उत्तानपाद, दूसरे पुत्र थे किन्तु मैत्रेय मुनि ने तुरन्त ही उत्तानपाद के पुत्र ध्रुव महाराज का वृत्तान्त प्रारम्भ कर दिया, क्योंकि मैत्रेय पुण्य-कार्यों के वर्णन के लिए आतुर थे। ध्रुव महाराज के जीवन की घटनाएँ भक्तों के लिए अत्यन्त मोहक हैं। उनके पवित्र कार्यों से शिक्षा लेकर कोई भी अपने आपको भौतिकता से विलग करके कठिन तपस्या द्वारा भक्तिमय सेवा को बढ़ा सकता है। ध्रुव के पवित्र कार्यकलापों को सुनकर ईश्वर के प्रति श्रद्धाभाव बढ़ाया जा सकता है और भगवान् से प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित करके भक्ति के दिव्य पद को प्राप्त किया जा सकता है। ध्रुव महाराज की तपस्याओं के उदाहरण श्रोताओं के हृदयों में तुरन्त भक्तिभाव उत्पन्न कर सकते हैं।

एकदा सुरुचेः पुत्रमङ्गमारोप्य लालयन् ।

उत्तमं नारुरुक्षन्तं ध्रुवं राजाभ्यनन्दत ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

एकदा—एक बार; सुरुचे:—सुरुचि के; पुत्रम्—पुत्र को; अङ्गम्—गोद में; आरोप्य—बैठा कर; लालयन्—दुलारते हुए; उत्तमम्—उत्तम; न—नहीं; आरुरुक्षन्तम्—चढ़ने का प्रयास करता; ध्रुवम्—ध्रुव का; राजा—राजा ने; अभ्यनन्दत—स्वागत किया।

एक बार राजा उत्तानपाद सुरुचि के पुत्र उत्तम को अपनी गोद में लेकर सहला रहे थे। ध्रुव महाराज भी राजा की गोद में चढ़ने का प्रयास कर रहे थे, किन्तु राजा ने उन्हें अधिक दुलार नहीं दिया।

तथा चिकीर्षमाणं तं सपत्न्यास्तनयं ध्रुवम् ।

सुरुचिः शृण्वतो राज्ञः सेर्ष्यमाहातिगर्विता ॥ १० ॥

शब्दार्थ

तथा—इस प्रकार; चिकीर्षमाणम्—चढ़ने के लिए प्रयत्नशील बालक ध्रुव; तम्—उस; स-पत्न्या:—अपनी सौत (सुनीति) का; तनयम्—पुत्र; ध्रुवम्—ध्रुव को; सुरुचिः—सुरुचि ने; शृण्वतः—सुनता हुआ; राज्ञः—राजा का; स-ईर्ष्यम्—ईर्ष्या से; आह—कहा; अतिगर्विता—अत्यन्त घमण्ड से भरी।

जब बालक ध्रुव महाराज अपने पिता की गोद में जाने का प्रयत्न कर रहे थे तो उसकी विमाता सुरुचि को उस बालक से अत्यन्त ईर्ष्या हुई और वह अत्यन्त दम्भ के साथ इस प्रकार बोलने लगी जिससे कि राजा सुन सके।

तात्पर्य : निस्सन्देह, राजा अपने दोनों पुत्रों के प्रति समान स्नेहिल थे, अतः वे ध्रुव तथा उत्तम दोनों को गोद में लेने के लिए स्वाभाविक रूप से उन्मुख थे। किन्तु अपनी रानी सुरुचि के प्रति पक्षपात के कारण वे चाहते हुए भी ध्रुव महाराज को दुलार न दे सके। सुरुचि ने राजा उत्तानपाद के भावों को भाँप लिया, अतः वह अपने प्रति राजा के प्रेम का अत्यन्त दम्भपूर्वक बखान करने लगी। यही स्त्री-स्वभाव है। यदि स्त्री जान लेती है कि उसका पति उसका पक्ष लेता है और उसके प्रति विशेष लगाव रखता है, तो वह अनाधिकार लाभ उठाती है। ये लक्षण स्वयंभुव मनु जैसे परिवार के उच्चस्थ समाज में भी परिलक्षित होते हैं। अतः यह निष्कर्ष निकला कि स्त्री का स्त्रीत्व-गुण सर्वत्र विद्यमान है।

न वत्स नृपतेर्धिष्ण्यं भवानारोढुमर्हति ।

न गृहीतो मया यत्त्वं कुक्षावपि नृपात्मजः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; वत्स—मेरे लड़के; नृपतेः—राजा का; धिष्यम्—आसन; भवान्—अपने आप; आरोढुम्—चढ़ने के लिए; अर्हति—योग्य; न—नहीं; गृहीतः—लिया गया; मया—मेरे द्वारा; यत्—क्योंकि; त्वम्—तुम; कुक्षौ—गर्भ में; अपि—यद्यपि; नृप-आत्मजः—राजा का पुत्र।

सुरुचि ने ध्रुव महाराज से कहा : हे बालक, तुम राजा की गोद या सिंहासन पर बैठने के योग्य नहीं हो। निस्सन्देह, तुम भी राजा के पुत्र हो, किन्तु तुम मेरी कोख से उत्पन्न नहीं हो, अतः तुम अपने पिता की गोद में बैठने के योग्य नहीं हो।

तात्पर्य : सुरुचि ने बड़े अभिमान के साथ ध्रुव महाराज को बताया कि राजा की गोद या सिंहासन पर बैठने के लिए राजा का पुत्र होना ही कोई योग्यता (पात्रता) नहीं है, अपितु यह अधिकार तो इस पर निर्भर करता है कि तुमने मेरी कोख से जन्म लिया है अथवा नहीं। दूसरे शब्दों में, अप्रत्यक्ष रूप से उसने ध्रुव महाराज को बता दिया कि यद्यपि वह राजपुत्र था, किन्तु दूसरी रानी के गर्भ से जन्म लेने के कारण वह वैध पुत्र नहीं माना जा सकता।

बालोऽसि बत नात्मानमन्यस्त्रीगर्भसम्भृतम् ।

नूनं वेद भवान्यस्य दुर्लभेऽर्थे मनोरथः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

बालः—बालक; असि—हो; बत—फिर भी; न—नहीं; आत्मानम्—मेरे; अन्य—दूसरी; स्त्री—स्त्री; गर्भ—गर्भ; सम्भृतम्—से उत्पन्न; नूनम्—फिर भी; वेद—जानने का प्रयत्न करो; भवान्—अपने आप; यस्य—जिसका; दुर्लभे—अप्राप्य; अर्थे—वस्तु; मनः-रथः—इच्छुक।

मेरे बालक, तुम्हें पता नहीं कि तुम मेरी कोख से नहीं, वरन् दूसरी स्त्री से उत्पन्न हुए हो। अतः तुम्हें ज्ञात होना चाहिए कि तुम्हारा प्रयास व्यर्थ है। तुम ऐसी इच्छा की पूर्ति चाह रहे हो जिसका पूरा होना असम्भव है।

तात्पर्य : नन्हा सा बालक ध्रुव महाराज स्वभावतः अपने पिता के प्रति स्नेह से भरा था। उसे पता नहीं था कि उसकी दोनों माताओं में अन्तर है। यह अन्तर रानी सुरुचि ने बताया। उसने कहा कि चूँकि ध्रुव अबोध बालक है, अतः वह दोनों रानियों के अन्तर को नहीं समझ सकता। सुरुचि के गर्व का यह दूसरा वक्तव्य है।

तपसाराध्य पुरुषं तस्यैवानुग्रहेण मे ।

गर्भे त्वं साधयात्मानं यदीच्छसि नृपासनम् ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

तपसा—तपस्या से; आराध्य—सन्तुष्ट करके; पुरुषम्—भगवान्; तस्य—उसकी; एव—केवल; अनुग्रहेण—कृपा से; मे—मेरे; गर्भे—गर्भ में; त्वम्—तुम; साध्य—प्रस्थापित करो; आत्मानम्—अपने को; यदि—यदि; इच्छसि—चाहते हो; नृप-आसनम्—राजा के सिंहासन पर।

यदि तुम राजसिंहासन पर बैठना चाहते हो तो तुम्हें कठिन तपस्या करनी होगी। सर्वप्रथम तुम्हें भगवान् नारायण को प्रसन्न करना होगा और वे तुम्हारी पूजा से प्रसन्न हो लें तो तुम्हें अगला जन्म मेरे गर्भ से लेना होगा।

तात्पर्य : सुरुचि ध्रुव महाराज से इतनी ईर्ष्यालु थी कि उसने अप्रत्यक्ष रूप से उनसे अपना शरीर बदल लेने के लिए कहा। उसके अनुसार, पहले उन्हें मरना होगा तब अगले जन्म में वे उसके गर्भ में शरीर धारण करेंगे। तभी ध्रुव महाराज अपने पिता के सिंहासन पर बैठ सकेंगे।

मैत्रेय उवाच

मातुः सपत्न्याः स दुरुक्तिविद्धः

श्वसन्नुषा दण्डहतो यथाहिः ।

हित्वा मिषन्तं पितरं सन्नवाचं

जगाम मातुः प्ररुदन्सकाशम् ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—महामुनि मैत्रेय ने कहा; मातुः—अपनी माता की; स-पत्न्याः—सौत का; सः—वह; दुरुक्ति—कटु वचनों से; विद्धः—विंध कर; श्वसन्—तेजी से साँस लेता; रुषा—रोष से; दण्ड-हतः—डंडे से मारा गया; यथा—जिस प्रकार; अहिः—सर्प; हित्वा—त्याग कर; मिषन्तम्—केवल ऊपर देखता; पितरम्—अपना पिता; सन्न-वाचम्—मौन; जगाम—चला गया; मातुः—अपनी माता के; प्ररुदन्—रोते हुए; सकाशम्—पास।

मैत्रेय मुनि ने आगे कहा : हे विदुर, जिस प्रकार से लाठी से मारा गया सर्प फुफकारता है, उसी प्रकार ध्रुव महाराज अपनी विमाता के कटु वचनों से आहत होकर क्रोध से तेजी से साँस लेने लगे। जब उन्होंने देखा कि पिता मौन हैं और उन्होंने प्रतिवाद नहीं किया, तो उन्होंने तुरन्त उस स्थान को छोड़ दिया और अपनी माता के पास गये।

तं निःश्वसन्तं स्फुरिताधरोष्ठं

सुनीतिरुत्सङ्ग उदूह्य बालम् ।

निशम्य तत्पौरमुखान्नितान्तं

सा विव्यथे यद्गदितं सपत्न्या ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

तम्—उसको; निःश्वसन्तम्—जोर से साँस लेते; स्फुरित—कम्पित; अधर-ओष्ठम्—नीचे तथा ऊपर के होंठ; सुनीतिः—सुनीति; उत्सङ्गे—अपनी गोद में; उद्धृत्—उठाकर; बालम्—पुत्र को; निशम्य—सुनकर; तत्-पौर-मुखात्—अन्य पुरजनों के मुख से; नितान्तम्—सारा हाल; सा—वह; विव्यथे—दुखी हुई; यत्—जो; गदितम्—कहा गया; स-पत्या—सौत द्वारा।

जब ध्रुव महाराज अपनी माता के पास आये तो उनके होंठ क्रोध से काँप रहे थे और वे सिसक-सिसक कर जोर से रो रहे थे। रानी सुनीति ने अपने लाड़ले को तुरन्त गोद में उठा लिया और अन्तःपुर के वासियों ने सुरुचि के जो कटु वचन सुने थे उन सबको विस्तार से कह सुनाया। इस तरह सुनीति अत्यधिक दुखी हुई।

सोत्सृज्य धैर्यं विललाप शोक

दावाग्निना दावलतेव बाला ।

वाक्यं सपत्याः स्मरती सरोज

श्रिया दृशा बाष्पकलामुवाह ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

सा—वह; उत्सृज्य—छोड़कर; धैर्यम्—धैर्य, ढाढस; विललाप—विलाप करने लगी; शोक-दाव-अग्निना—शोक की अग्नि से; दाव-लता इव—जली हुई पत्तियों के समान; बाला—स्त्री; वाक्यम्—शब्द; स-पत्याः—अपनी सौत द्वारा कहे; स्मरती—स्मरण करती; सरोज-श्रिया—कमल के समान सुन्दर मुख; दृशा—देखते हुए; बाष्प-कलाम्—रोते हुए; उवाह—कहा।

यह घटना सुनीति के लिए असह्य थी। वह मानो दावाग्नि में जल रही थी और शोक के कारण वह जली हुई पत्ती (बेलि) के समान हो गई और पश्चात्ताप करने लगी। अपनी सौत के शब्द स्मरण होने से उसका कमल जैसा सुन्दर मुख आँसुओं से भर गया और वह इस प्रकार बोली।

तात्पर्य : जब मनुष्य दुखी होता है, तो वह अपने को जंगल की अग्नि से जले पत्ते के समान अनुभव करता है। ऐसी ही सुनीति की स्थिति हो गई थी। यद्यपि सुनीति का मुख कमल के समान सुन्दर था, किन्तु अपनी सौत के कटु वचनों से उत्पन्न अग्नि से वह मुरझा गया।

दीर्घं श्वसन्ती वृजिनस्य पारम्

अपश्यती बालकमाह बाला ।

मामङ्गलं तात परेषु मंस्था

भुङ्क्ते जनो यत्परदुःखदस्तत् ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

दीर्घम्—अत्यधिक; श्वसन्ती—साँस लेती हुई; वृजिनस्य—संकट की; पारम्—सीमा; अपश्यती—बिना पाये; बालकम्—अपने पुत्र से; आह—कहा; बाला—स्त्री ने; मा—मत; अमङ्गलम्—अशकुन; तात—मेरे पुत्र; परेषु—अन्यों को; मंस्थाः—कामना; भुङ्क्ते—भोग करता है; जनः—व्यक्ति; यत्—जो; पर-दुःखदः—जो दूसरों को पीड़ा पहुँचाए; तत्—वह।

वह तेजी से साँस भी ले रही थी और वह इस दुखद स्थिति का कोई इलाज ठीक नहीं ढूँढ पा रही थी। अतः उसने अपने पुत्र से कहा : हे पुत्र, तुम अन्यों के अमंगल की कामना मत करो। जो भी दूसरों को कष्ट पहुँचाता है, वह स्वयं दुख भोगता है।

सत्यं सुरुच्याभिहितं भवान्मे
यद्दुर्भगाया उदरे गृहीतः ।
स्तन्येन वृद्धश्च विलज्जते यां
भार्येति वा वोढुमिडस्पतिर्माम् ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

सत्यम्—सत्य; सुरुच्या—सुरुचि द्वारा; अभिहितम्—कहा गया; भवान्—आपको; मे—मुझ; यत्—क्योंकि; दुर्भगायाः—अभागी के; उदरे—गर्भ में; गृहीतः—जन्म लेकर; स्तन्येन—स्तन के दूध से; वृद्धः च—बड़ा हुआ; विलज्जते—लज्जा आती है; याम्—उसको; भार्या—पत्नी; इति—इस प्रकार; वा—अथवा; वोढुम्—स्वीकार करने के लिए; इडः-पतिः—राजा; माम्—मुझको।

सुनीति ने कहा : प्रिय पुत्र, सुरुचि ने जो कुछ भी कहा है, वह ठीक है, क्योंकि तुम्हारे पिता मुझको अपनी पत्नी तो क्या अपनी दासी तक नहीं समझते, उन्हें मुझको स्वीकार करने में लज्जा आती है। अतः यह सत्य है कि तुमने एक अभागी स्त्री की कोख से जन्म लिया है और तुम उसके स्तनों का दूध पीकर बड़े हुए हो।

आतिष्ठ तत्तात विमत्सरस्त्व-
मुक्तं समात्रापि यदव्यलीकम् ।
आराधयाधोक्षजपादपद्मं
यदीच्छसेऽध्यासनमुत्तमो यथा ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

आतिष्ठ—पालन करो; तत्—वही; तात—प्रिय पुत्र; विमत्सरः—बिना ईर्ष्या के; त्वम्—तुमको; उक्तम्—कहा गया; समात्रा अपि—तुम्हारी विमाता द्वारा; यत्—जो कुछ; अव्यलीकम्—वे सत्य हैं; आराधय—आराधना प्रारम्भ करो; अधोक्षज—सत्त्व, दिव्य पुरुष; पाद-पद्मम्—चरणकमल; यदि—यदि; इच्छसे—चाहते हो; अध्यासनम्—आसन ग्रहण करना; उत्तमः—अपने सौतेले भाई उत्तम के साथ; यथा—जिस प्रकार।

प्रिय पुत्र, तुम्हारी विमाता सुरुचि ने जो कुछ कहा है, यद्यपि वह सुनने में कटु है, किन्तु है सत्य। अतः यदि तुम उसी सिंहासन पर बैठना चाहते हो जिसमें तुम्हारा सौतेला भाई उत्तम बैठेगा

तो तुम अपना ईर्ष्याभाव त्याग कर तुरन्त अपनी विमाता के आदेशों का पालन करो। तुम्हें बिना किसी विलम्ब के पुरुषोत्तम भगवान् के चरण-कमलों की पूजा में लग जाना चाहिए।

तात्पर्य : सुरुचि ने अपने सौतेले पुत्र के प्रति जो कटु वचन कहे थे, वे सत्य थे, क्योंकि जब तक किसी पर भगवान् की कृपा नहीं होती, तब तक उसे जीवन में कोई सफलता नहीं मिल पाती। 'आपन सोची होवत नहीं प्रभु सोची तत्काल'। ध्रुव महाराज की माता सुनीति अपनी सौत के इस उपदेश से एकमत थी कि ध्रुव भगवान् की पूजा में अपने को प्रवृत्त करे। परोक्षतः सुरुचि के शब्द ध्रुव महाराज के लिए वरदान सिद्ध हुए, क्योंकि अपनी विमाता के वचनों से प्रभावित होकर ही वे एक महान् भक्त बने।

यस्याङ्घ्रिपद्मं परिचर्य विश्व-

विभावनायात्तगुणाभिपत्तेः ।

अजोऽध्यतिष्ठत्खलु पारमेष्ठ्यं

पदं जितात्मश्वसनाभिवन्द्यम् ॥ २० ॥

शब्दार्थ

यस्य—जिसके; अङ्घ्रि—पाँव; पद्मम्—कमल; परिचर्य—पूजा करके; विश्व—ब्रह्माण्ड; विभावनाय—सृष्टि के लिए; आत्त—प्राप्त; गुण-अभिपत्तेः—वांछित योग्यता प्राप्त करने के लिए; अजः—अजन्मा (ब्रह्मा); अध्यतिष्ठत्—प्राप्त हुआ; खलु—निश्चित रूप से; पारमेष्ठ्यम्—इस ब्रह्माण्ड में सर्वोच्च पद; पदम्—पद; जित-आत्म—जिसने मन को जीत लिया है; श्वसन—श्वास को साध कर; अभिवन्द्यम्—पूज्य।

सुनीति ने कहा : भगवान् इतने महान् हैं कि तुम्हारे परदादा ब्रह्मा ने मात्र उनके चरणकमलों की पूजा द्वारा इस ब्रह्माण्ड की सृष्टि करने की योग्यता अर्जित की। यद्यपि वे अजन्मा हैं और सब जीवात्माओं में प्रधान हैं, किन्तु वे इस उच्च पद पर भगवान् की ही कृपा से आसीन हैं, जिनकी आराधना बड़े-बड़े योगी तक अपने मन तथा प्राण-वायु को रोक कर करते हैं।

तात्पर्य : सुनीति ने ब्रह्माजी का उदाहरण रखा, जो ध्रुव महाराज के परदादा थे। यद्यपि ब्रह्मा भी जीवात्मा हैं, किन्तु अपनी तपस्या के बल पर उन्होंने परमेश्वर की कृपा से इस ब्रह्माण्ड के स्रष्टा का उच्चपद प्राप्त किया। किसी भी प्रयास में सफल होने के लिए न केवल कठिन तपस्या करने की आवश्यकता होती है, वरन् भगवान् की कृपा पर भी आश्रित रहना पड़ता है। इसका संकेत ध्रुव महाराज को उनकी विमाता ने दिया था और अब उसकी पुष्टि उनकी अपनी माता सुनीति द्वारा की जा

रही थी।

तथा मनुर्वो भगवान्पितामहो

यमेकमत्या पुरुदक्षिणैर्मखैः ।

इष्ट्वाभिपेदे दुरवापमन्यतो

भौमं सुखं दिव्यमथापवर्ग्यम् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

तथा—उसी प्रकार; मनुः—स्वायंभुव मनु; वः—तुम्हारे; भगवान्—पूज्य; पितामहः—दादा (बाबा); यम्—जिनको; एक-
मत्या—एकनिष्ठ सेवा से; पुरु—महान; दक्षिणैः—दान से; मखैः—यज्ञ करने से; इष्ट्वा—पूजा करके; अभिपेदे—प्राप्त किया;
दुरवापम्—दुष्प्राप्य; अन्यतः—किसी अन्य साधन से; भौमम्—भौतिक; सुखम्—सुख; दिव्यम्—नैसर्गिक; अथ—तत्पश्चात्;
आपवर्ग्यम्—मुक्ति।

सुनीति ने अपने पुत्र को बताया : तुम्हारे बाबा स्वायंभुव मनु ने दान-दक्षिणा के साथ बड़े-
बड़े यज्ञ सम्पन्न किये और एकनिष्ठ श्रद्धा तथा भक्ति से उन्होंने पूजा द्वारा भगवान् को प्रसन्न
किया। इस प्रकार उन्होंने भौतिक सुख तथा बाद में मुक्ति प्राप्त करने में महान् सफलता पाई
जिसे देवताओं को पूजकर प्राप्त कर पाना असंभव है।

तात्पर्य : जीवन की सफलता का मापन इस जन्म में भौतिक सुख तथा अगले जन्म में मोक्ष प्राप्ति
के द्वारा की जाती है। ऐसी सफलता भगवान् की कृपा से ही सम्भव है। यहाँ पर प्रयुक्त एकमत्या शब्द
का अर्थ है अविचलित भाव से भगवान् में मन केन्द्रित करना। भगवान् की ऐसी अविचल पूजा
भगवद्गीता में अनन्यभाक् के रूप में अभिव्यक्त हुई है। “जो किसी अन्य स्रोत से अप्राप्य है” यह भी
यहाँ कहा गया है। यहाँ पर ‘अन्य स्रोत’ अन्यतः का आशय देवताओं की पूजा है। यहाँ पर यह भी
विशेष उल्लेख है कि मनु का वैभव भगवान् की दिव्य सेवा में उनकी अविचल श्रद्धा के कारण था। जो
भौतिक सुख की प्राप्ति के लिए अन्य देवताओं की पूजा में अपने मन को इधर-उधर ले जाता है, वह
बुद्धिविहीन समझा जाता है। यदि किसी को भौतिक सुख भी चाहिए तो भी वह अविचल भाव से
परमेश्वर की पूजा कर सकता है और जो मुक्तिकामी है, वह भी उनकी पूजा करके अपना जीवन-लक्ष्य
प्राप्त कर सकता है।

तमेव वत्साश्रय भृत्यवत्सलं

मुमुक्षुभिर्मृग्यपदाब्जपद्धतिम् ।

अनन्यभावे निजधर्मभाविते

मनस्यवस्थाप्य भजस्व पूरुषम् ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

तम्—उसको; एव—भी; वत्स—मेरे पुत्र; आश्रय—शरण ग्रहण करो; भृत्य-वत्सलम्—भगवान् की, जो अपने भक्तों पर अत्यन्त कृपालु हैं; मुमुक्षुभिः—जो मुक्ति की इच्छा रखने वाले हैं, वे भी; मृग्य—खोजे जाकर; पद-अब्ज—चरणकमल; पद्धतिम्—प्रणाली; अनन्य-भावे—एकान्त भाव में; निज-धर्म-भाविते—अपने मूल स्वाभाविक पद पर स्थित; मनसि—मन को; अवस्थाप्य—रखकर; भजस्व—भक्ति करते रहो; पूरुषम्—परम पुरुष।

मेरे पुत्र, तुम्हें भी भगवान् की शरण ग्रहण करनी चाहिए, क्योंकि वे अपने भक्तों पर अत्यन्त दयालु हैं। जन्म-मरण के चक्र से मुक्ति चाहने वाले व्यक्ति सदैव भक्ति सहित भगवान् के चरणकमलों की शरण में जाते हैं। अपना निर्दिष्ट कार्य करके पवित्र होकर तुम अपने हृदय में भगवान् को स्थिर करो और एक पल भी विचलित हुए बिना उनकी सेवा में तन्मय रहो।

तात्पर्य : सुनीति ने अपने पुत्र को जो भक्तियोग की पद्धति बताई वह भगवत्-साक्षात्कार की आदर्श विधि है। प्रत्येक व्यक्ति अपना स्वाभाविक वृत्तिपरक-कार्य करता हुआ उसी के साथ ही अपने हृदय में भगवान् को बसाये रख सकता है। स्वयं भगवान् ने *भगवद्गीता* में भी अर्जुन को यही उपदेश दिया था, “लड़ते रहो और मन में मुझे धारण किये रहो।” कृष्णचेतना में सिद्धि चाहने वाले प्रत्येक निष्ठावान व्यक्ति का यही आदर्श होना चाहिए। इस प्रसंग में रानी सुनीति ने अपने पुत्र को उपदेश दिया कि भगवान् *भृत्यवत्सल* कहलाते हैं, अर्थात् वे अपने भक्तों पर अत्यन्त दयालु हैं। उसने कहा “तुम अपनी विमाता से अपमानित होकर रोते हुए मेरे पास आये हो, किन्तु मैं तुम्हारा भला नहीं कर सकती। किन्तु कृष्ण अपने भक्तों पर इतने दयालु हैं कि यदि तुम उनके पास जाओगे तो उनकी वत्सलता तथा उनका मृदु व्यवहार मुझ जैसी लाख-लाख माताओं से भी बढ़कर होगा।” जब कोई दूसरा किसी का दुख घटा पाने में असमर्थ रहता है, तो श्रीकृष्ण ही भक्त की सहायता करते हैं। सुनीति ने इस पर भी बल दिया कि भगवान् तक पहुँचने की क्रिया सरल नहीं, वरन् आध्यात्मिकता में बढ़े-चढ़े ऋषि तक इसकी खोज में रहते हैं। सुनीति ने यह भी बताया कि ध्रुव महाराज अभी पाँच वर्ष के छोटे बालक हैं, अतः *कर्मकाण्ड* द्वारा अपने आपको शुद्ध कर पाना उनके लिए सम्भव नहीं है। किन्तु भक्तियोग की विधि से पाँच वर्ष से भी कम आयु का बालक या किसी भी उम्र का व्यक्ति शुद्ध हो सकता है। भक्तियोग की यही विशिष्ट महत्ता है। अतः उसने उन्हें देवताओं की या अन्य किसी विधि की पूजा

करने की सलाह नहीं दी, उन्हें केवल भगवान् की शरण में जाने को कहा, जिससे सिद्धि प्राप्त हो सके। ज्योंही मनुष्य अपने हृदय में भगवान् को बसा लेता है, हर काम सरल हो जाता है और सफलता मिलती है।

नान्यं ततः पद्मपलाशलोचनाद्
 दुःखच्छिदं ते मृगयामि कञ्चन ।
 यो मृग्यते हस्तगृहीतपद्मया
 श्रियेतैरङ्ग विमृग्यमाणया ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

न अन्यम्—दूसरे नहीं; ततः—अतः; पद्म-पलाश-लोचनात्—कमल नेत्र वाले भगवान् से; दुःख-छिदम्—अन्यों के कष्टों को कम करने वाला; ते—तुम्हारा; मृगयामि—खोज में हूँ; कञ्चन—अन्य कोई; यः—जो; मृग्यते—ढूँढता है; हस्त-गृहीत-पद्मया—हाथ में कमल पुष्प लेकर; श्रिया—सम्पत्ति की देवी; इतरैः—अन्यों से; अङ्ग—मेरे पुत्र; विमृग्यमाणया—पूजित।

हे प्रिय ध्रुव, कमल के दलों जैसे नेत्रों वाले भगवान् के अतिरिक्त मुझे कोई ऐसा नहीं दिखता जो तुम्हारे दुखों को कम कर सके। ब्रह्मा जैसे अनेक देवता लक्ष्मी देवी को प्रसन्न करने के लिए लालायित रहते हैं, किन्तु लक्ष्मी जी स्वयं अपने हाथ में कमल पुष्प लेकर परमेश्वर की सेवा करने के लिए सदैव तत्पर रहती हैं।

तात्पर्य : सुनीति ने यह इंगित किया कि भगवान् तथा अन्य देवताओं से प्राप्त आशीर्वाद एक समान नहीं होते। मूर्ख लोग ऐसा कहते हैं कि चाहे जिस देवता को पूजो, फल समान मिलेगा, किन्तु तथ्य यह नहीं है। *भगवद्गीता* में भी कहा गया है कि देवताओं से प्राप्त वर क्षणिक होते हैं और अल्प-ज्ञानियों के लिए हैं। दूसरे शब्दों में, चूँकि सारे ही देवता भौतिकता की दृष्टि से बद्धजीव ही हैं, अतः यद्यपि ये उच्च पद पर आसीन होते हैं तो भी उनके वरदान स्थायी नहीं हो सकते। स्थायी वरदान तो आत्मिक होता है, क्योंकि आत्मा शाश्वत है। *भगवद्गीता* में यह भी कहा गया है कि जिनकी मति मारी गई है, वे ही देवताओं की पूजा करते हैं। अतः सुनीति ने अपने पुत्र से कहा कि वह देवताओं का कृपापात्र न बनकर अपने कष्ट को कम करने के लिए भगवान् के पास जाए।

भगवान् भौतिक ऐश्वर्यों का नियंत्रण अपनी विभिन्न शक्तियों द्वारा, विशेष रूप से सम्पत्ति की देवी द्वारा, करते हैं। अतः जो ऐश्वर्य की खोज में हैं, वे सम्पत्ति की देवी के कृपापात्र बनना चाहते हैं। यहाँ तक कि बड़े-बड़े देवता भी सम्पत्ति की देवी की पूजा करते हैं, किन्तु सम्पत्ति की देवी महालक्ष्मी जी

स्वयं भगवान् की कृपाकांक्षी रहती हैं। अतः जो मनुष्य भगवान् की पूजा करता है, वह सम्पत्ति की देवी के आशीर्वाद स्वतः प्राप्त कर लेता है। चूँकि जीवन की इस स्थिति में ध्रुव महाराज भौतिक ऐश्वर्य की खोज में थे, अतः उनकी माता ने ठीक ही सलाह दी कि भौतिक ऐश्वर्य के लिए भी देवताओं की पूजा न करके भगवान् को पूजें।

यद्यपि शुद्ध भक्त कभी भगवान् से भौतिक समृद्धि का वर नहीं माँगता, किन्तु *भगवद्गीता* में कहा गया है कि शुद्ध व्यक्ति भौतिक वरों के लिए भी भगवान् के ही पास जाते हैं। जो व्यक्ति भौतिक लाभ के लिए भगवान् के पास जाता है, वह क्रमशः उनकी संगति से पवित्र हो जाता है। इस प्रकार वह समस्त भौतिक आकांक्षाओं से मुक्त होकर आध्यात्मिक जीवन के स्तर को प्राप्त होता है। जब तक कोई आध्यात्मिक पद को प्राप्त नहीं हो लेता, तब तक उसके लिए भौतिक कल्मष को पूर्ण रूप से पार कर पाना दुस्तर है।

ध्रुव की माता सुनीति दूरदर्शी थीं, अतः उन्होंने अपने पुत्र को अन्य देवताओं को त्याग कर केवल श्रीभगवान् की पूजा करने के लिए कहा। यहाँ पर भगवान् को *पद्मपलाशलोचनात्* अर्थात् कमल पुष्प जैसे नेत्रों वाला कहा गया है। यदि मनुष्य थका हो और वह कमलपुष्प देख ले तो उसकी सारी थकान जाती रहती है। इसी प्रकार जब कोई दुखी व्यक्ति श्रीभगवान् के कमल-मुख का दर्शन करता है, तो उसका दुख कम हो जाता है। भगवान् विष्णु तथा सम्पत्ति की देवी लक्ष्मी के हाथ में लिया गया कमल पुष्प सौभाग्य का एक प्रतीक है। एक ही साथ विष्णु तथा लक्ष्मी के उपासक सभी प्रकार से, विशेष रूप से भौतिक जीवन में परम ऐश्वर्यशाली होते हैं। भगवान् को कभी-कभी *शिव-विरिञ्चि-नुतम्* कहा जाता है, जिसका अर्थ है कि श्रीभगवान् नारायण के चरणकमलों को ब्रह्मा तथा शिव भी नमस्कार करते हैं।

मैत्रेय उवाच

एवं सञ्जल्पितं मातुराकर्ण्यार्थागमं वचः ।

सन्नियम्यात्मनात्मानं निश्चक्राम पितुः पुरात् ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय मुनि ने कहा; एवम्—इस प्रकार; सञ्जल्पितम्—परस्पर बातें करते; मातुः—माता से; आकर्ण्य—सुनकर; अर्थ-आगमम्—सार्थक; वचः—शब्द; सन्नियम्य—संयमित करके; आत्मना—मन से; आत्मानम्—अपने को; निश्चक्राम—निकल पड़े; पितुः—पिता के; पुरात्—घर से।

मैत्रेय मुनि ने आगे कहा : ध्रुव महाराज की माता सुनीति का उपदेश वस्तुतः उनके मनोवांछित लक्ष्य को पूरा करने के निमित्त था, अतः बुद्धि तथा दृढ़ संकल्प द्वारा चित्त का समाधान करके उन्होंने अपने पिता का घर त्याग दिया।

तात्पर्य : माता तथा पुत्र दोनों को कोप था कि ध्रुव महाराज का अपमान उनकी विमाता द्वारा हुआ और उनके पिता ने उस पर कोई कार्यवाही नहीं की। किन्तु कोरा कोप वृथा है, उसे कम करने का उपाय खोजना चाहिए। अतः माता तथा पुत्र दोनों ने भगवान् की शरण में जाना उचित समझा, क्योंकि समस्त भौतिक समस्याओं का एकमात्र हल वही है। यहाँ यह सूचित किया गया है कि ध्रुव महाराज ने अपने पिता की राजधानी छोड़ दी और भगवान् की खोज करने के लिए एकान्त स्थान में चले गये। प्रह्लाद महाराज का भी यही उपदेश है कि मन की शान्ति चाहने वालों को गृहस्थ जीवन के समस्त कल्मष से मुक्त होकर वन में जाकर भगवान् की शरण ग्रहण करनी चाहिए। गौडीय वैष्णवों के लिए यह वन “वृन्दा का वन” या वृन्दावन है। यदि मनुष्य वृन्दावन में वृन्दावनेश्वरी श्रीमती राधारानी की शरण ग्रहण करता है, तो निश्चय ही उसकी जीवन की सभी समस्याएँ आसानी से हल हो जाती हैं।

नारदस्तदुपाकर्ण्य ज्ञात्वा तस्य चिकीर्षितम् ।

स्पृष्ट्वा मूर्धन्यघञ्जेन पाणिना प्राह विस्मितः ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

नारदः—नारद मुनि ने; तत्—वह; उपाकर्ण्य—सुनकर; ज्ञात्वा—तथा जानकर; तस्य—उसका (ध्रुव महाराज का); चिकीर्षितम्—कार्यकलाप; स्पृष्ट्वा—स्पर्श करके; मूर्धनि—सिर पर; अघ-घ्जेन—समस्त पापों को भगाने वाले; पाणिना—हाथ से; प्राह—कहा; विस्मितः—चकित होकर।

नारद मुनि ने यह समाचार सुना और ध्रुव महाराज के समस्त कार्यकलापों को जानकर वे चकित रह गये। वे ध्रुव के पास आये और उनके सिर को अपने पुण्यवर्धक हाथ से स्पर्श करते हुए इस प्रकार बोले।

तात्पर्य : जब ध्रुव महाराज अपनी माता सुनीति से राजमहल में घटी सभी घटनाएँ बता रहे थे वहाँ पर नारद उपस्थित नहीं थे। अतः यह प्रश्न किया जा सकता है कि नारद ने ये सारी बातें कैसे सुन लीं।

इसका उत्तर है कि नारद *त्रिकालज्ञ* हैं। वे इतने शक्तिमान हैं कि वे सबों के हृदय में चल रही भूत, भविष्यत् तथा वर्तमान की घटनाओं को जान सकते हैं जिस प्रकार परमात्मा भगवान् को सब ज्ञात है। अतः ध्रुव महाराज के दृढ़ संकल्प को समझ कर नारद उनकी सहायता के लिए आये। इसकी व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है—भगवान् सबों के हृदय में विद्यमान हैं, अतः जब उन्हें पता चल जाता है कि कोई जीवात्मा भक्ति में प्रवेश करने के लिए इच्छुक है, तो वे अपना प्रतिनिधि भेजते हैं। इस प्रकार नारद को ध्रुव महाराज के पास भेजा गया। इसकी व्याख्या *चैतन्यचरितामृत* में मिलती है। *गुरु-कृष्ण-प्रसादे पाय भक्ति-लता-बीज*—गुरु तथा कृष्ण की कृपा से भक्ति में प्रविष्ट हुआ जा सकता है। ध्रुव महाराज के संकल्प के कारण परमात्मा श्रीकृष्ण ने तुरन्त ही अपने प्रतिनिधि नारद को दीक्षार्थ भेज दिया।

अहो तेजः क्षत्रियाणां मानभङ्गममृष्यताम् ।

बालोऽप्ययं हृदा धत्ते यत्समातुरसद्वचः ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

अहो—कितना आश्चर्यमय है; तेजः—बल; क्षत्रियाणाम्—क्षत्रियों का; मान-भङ्गम्—प्रतिष्ठा को धक्का; अमृष्यताम्—सहन कर सकने में अक्षम; बालः—मात्र बालक; अपि—यद्यपि; अयम्—यह; हृदा—हृदय में; धत्ते—घर कर लिया है; यत्—जो; समातुः—अपनी विमाता का; असत्—अरुचिकर, कटु; वचः—वचन।

अहो! शक्तिशाली क्षत्रिय कितने तेजमय होते हैं! वे थोड़ा भी मान-भंग सहन नहीं कर सकते। जरा सोचो तो, यह नन्हा सा बालक है, तो भी उसकी सौतेली माता के कटु वचन उसके लिए असह्य हो गये।

तात्पर्य : क्षत्रियों के गुणों का वर्णन *भगवद्गीता* में किया गया है। महत्त्वपूर्ण गुण दो हैं—आत्म-सम्मान तथा युद्ध भूमि में पीठ न दिखाना। ऐसा प्रतीत होता है कि ध्रुव महाराज के शरीर में *क्षत्रिय-रक्त* स्वभावतः अत्यन्त सक्रिय था। यदि परिवार में ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य संस्कृति का पालन होता है, तो स्वभावतः पुत्रों तथा प्रपौत्रों को उस जाति विशेष के गुण उत्तराधिकार में प्राप्त होते हैं। अतः वैदिक पद्धति में संस्कारों का दृढ़ता से पालन किया जाता है। यदि परिवार में प्रचलित सुधारवादी नियमों को कोई ग्रहण नहीं करता तो वह तुरन्त निम्न स्तर को प्राप्त जाता है।

नारद उवाच

नाधुनाप्यवमानं ते सम्मानं वापि पुत्रक ।

लक्षयामः कुमारस्य सक्तस्य क्रीडनादिषु ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

नारदः उवाच—नारद मुनि ने कहा; न—नहीं; अधुना—अभी; अपि—यद्यपि; अवमानम्—अपमान; ते—तुमको; सम्मानम्—आदर; वा—अथवा; अपि—निश्चय ही; पुत्रक—हे पुत्र; लक्षयामः—मुझे दिखाई पड़ रहा है; कुमारस्य—तुम जैसे बालकों का; सक्तस्य—आसक्त; क्रीडन-आदिषु—खेल इत्यादि में।

महर्षि नारद ने ध्रुव से कहा : हे बालक, अभी तो तुम नन्हें बालक हो, जिसकी आसक्ति खेल इत्यादि में रहती है। तो फिर तुम अपने सम्मान के विपरीत अपमानजनक शब्दों से इतने प्रभावित क्यों हो ?

तात्पर्य : सामान्य रूप से जब बच्चे को बदमाश या मूर्ख कह कर डाँटा जाता है, तो वह हँस देता है और इन अपमानजनक शब्दों को गम्भीरता से नहीं लेता। इसी प्रकार यदि उससे सम्मानसूचक शब्द कहे जाते हैं, तो भी वह उनकी परवाह नहीं करता। किन्तु ध्रुव महाराज में क्षत्रिय जोश इतना प्रबल था कि वे अपनी विमाता द्वारा किये गये रंचमात्र अपमान को भी सहन नहीं कर पाये क्योंकि इससे इनके क्षत्रिय-सम्मान को धक्का लगा था।

विकल्पे विद्यमानेऽपि न ह्यसन्तोषहेतवः ।

पुंसो मोहमृते भिन्ना यल्लोके निजकर्मभिः ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

विकल्पे—अन्य उपाय; विद्यमाने अपि—रहने पर भी; न—नहीं; हि—निश्चय ही; असन्तोष—नाराजगी; हेतवः—कारण; पुंसः—मनुष्यों का; मोहम् ऋते—मोहग्रस्त हुए बिना; भिन्नाः—पृथक् हुआ; यत् लोके—इस लोक में; निज-कर्मभिः—अपने कार्य से।

हे ध्रुव, यदि तुम समझते हो कि तुम्हारे आत्मसम्मान को ठेस पहुँची है, तो भी तुम्हें असंतुष्ट होने का कोई कारण नहीं है। इस प्रकार का असन्तोष माया का ही अन्य लक्षण है; प्रत्येक जीवात्मा अपने पूर्व कर्मों के अनुसार नियंत्रित होता है, अतः सुख तथा दुख भोगने के लिए नाना प्रकार के जीवन होते हैं।

तात्पर्य : वेदों में कहा गया है कि जीवात्मा भौतिक संसर्ग से सर्वथा अदूषित तथा अप्राभिवत रहता है। जीवात्मा को अपने पूर्वकर्मों के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार की भौतिक देह प्राप्त होती हैं। किन्तु यदि कोई यह जान ले कि जीवित आत्मा के रूप में उसका सुख या दुख से कोई लगाव नहीं हो,

तो उसे मुक्त पुरुष कहा जाता है। भगवद्गीता (१८.५४) में इसकी पुष्टि हुई है—ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा—जब मनुष्य वास्तव में दिव्य पद पर आसीन होता है, तो न तो वह किसी वस्तु के लिए शोक करता है न इच्छा। नारद मुनि ने सर्वप्रथम ध्रुव महाराज को यह बताना चाहा कि अभी तो वह बालक है; उसे अपमान या सम्मान के शब्दों से इतना प्रभावित नहीं होना चाहिए। और यदि वह इतना आगे बढ़ चुका है कि अपमान अथवा सम्मान को समझने लगा है, तो उसे इस ज्ञान का सदुपयोग अपने निजी जीवन में प्रयोग करके देखना चाहिए। उसे यह ज्ञात होना चाहिए कि मान या अपमान पूर्वकर्मों के द्वारा निर्धारित होते हैं, अतः मनुष्य को किसी भी परिस्थिति में दुखी या प्रसन्न नहीं होना चाहिए।

परितुष्येत्ततस्तात तावन्मात्रेण पूरुषः ।

दैवोपसादितं यावद्वीक्ष्येश्वरगतिं बुधः ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

परितुष्येत्—संतुष्ट रहना चाहिए; ततः—अतः; तात—हे बालक; तावत्—तब तक; मात्रेण—गुण; पूरुषः—पुरुष; दैव—भाग्य के; उपसादितम्—द्वारा प्रदत्त; यावत्—जब तक; वीक्ष्य—देखकर; ईश्वर-गतिम्—भगवान् की विधि; बुधः—बुद्धिमान मनुष्य।

भगवान् की गति बड़ी विचित्र है। बुद्धिमान मनुष्य को चाहिए कि वह इस गति को स्वीकार करे और अनुकूल या प्रतिकूल जो कुछ भी भगवान् की इच्छा से सम्मुख आए, उससे संतुष्ट रहे।

तात्पर्य : महर्षि नारद ने ध्रुव महाराज को शिक्षा दी कि सभी परिस्थितियों में मनुष्य को संतुष्ट रहना चाहिए। प्रत्येक बुद्धिमान मनुष्य को यह समझना चाहिए कि देहात्म-बुद्धि के कारण ही हमें सुख तथा दुख भोगने पड़ते हैं। जो दिव्य अवस्था को प्राप्त है और देहात्म-बुद्धि से परे है, वह बुद्धिमान समझा जाता है। जो भक्त होता है, वह समस्त असफलताओं को भगवान् का विशिष्ट वरदान मानता है। जब भक्त कष्ट में होता है, तो वह इसे भगवान् की कृपा मानकर मन, बुद्धि तथा शरीर से उनको बारम्बार प्रणाम करता है। अतः बुद्धिमान मनुष्य को ईश्वर की कृपा पर निर्भर रहते हुए सदैव संतुष्ट रहना चाहिए।

अथ मात्रोपदिष्टेन योगेनावरुरुत्ससि ।

यत्प्रसादं स वै पुंसां दुराराध्यो मतो मम ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

अथ—अतः; मात्रा—अपनी माता द्वारा; उपदिष्टेन—उपदेश दिया जाकर; योगेन—योग ध्यान से; अवरुत्ससि—अपने को ऊपर उठाना चाहते हो; यत्-प्रसादम्—जिसकी कृपा; सः—वह; वै—निश्चय ही; पुंसाम्—जीवात्माओं का; दुराराध्यः—करने में अत्यन्त कठिन; मतः—विचार; मम—मेरा।

अब तुमने अपनी माता के उपदेश से भगवान् की कृपा प्राप्त करने के लिए ध्यान की योग-विधि पालन करने का निश्चय किया है, किन्तु मेरे विचार से ऐसी तपस्या सामान्य व्यक्ति के लिए सम्भव नहीं है। भगवान् को प्रसन्न कर पाना अत्यन्त कठिन है।

तात्पर्य : भक्ति-योग की पद्धति का पालन कर पाना सरल भी है और कठिन भी। परम गुरु नारद मुनि यह देखने के लिए ध्रुव महाराज की परीक्षा कर रहे हैं कि भक्ति करने के लिए वह कितना कृतसंकल्प है। शिष्य बनाने की यही विधि है। नारद मुनि ध्रुव के पास भगवान् के आदेश से दीक्षा देने के लिए आये थे तो भी वे ध्रुव के संकल्प की परीक्षा ले रहे थे। फिर भी यह सच है कि निष्ठावान पुरुष के लिए भक्ति अत्यन्त सरल है, किन्तु जो निष्ठावान एवं कृतसंकल्प नहीं है उसके लिए यह अत्यन्त कठिन विधि है।

मुनयः पदवीं यस्य निःसङ्गेनोरुजन्मभिः ।

न विदुर्मृगयन्तोऽपि तीव्रयोगसमाधिना ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

मुनयः—मुनिगण; पदवीम्—पथ; यस्य—जिसका; निःसङ्गेन—विरक्ति से; उरु-जन्मभिः—अनेक जन्मों के पश्चात्; न—कभी नहीं; विदुः—समझ पाये; मृगयन्तः—खोज करते हुए; अपि—निश्चय ही; तीव्र-योग—कठिन तपस्या; समाधिना—समाधि से।

नारद मुनि ने आगे बताया : अनेकानेक जन्मों तक इस विधि का पालन करते हुए तथा भौतिक कल्मष से विरक्त रह कर, अपने को निरन्तर समाधि में रखकर और विविध प्रकार की तपस्याएँ करके अनेक योगी ईश्वर-साक्षात्कार के मार्ग का पार नहीं पा सके।

अतो निवर्ततामेष निर्बन्धस्तव निष्फलः ।

यतिष्यति भवान्काले श्रेयसां समुपस्थिते ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

अतः—इसलिए; निवर्तताम्—अपने को रोको; एषः—यह; निर्बन्धः—संकल्प; तव—तुम्हारा; निष्फलः—वृथा; यतिष्यति—भविष्य में प्रयत्न करना; भवान्—स्वयं; काले—काल-क्रम में; श्रेयसाम्—अवसर; समुपस्थिते—आने पर।

इसलिए हे बालक, तुम्हें इसके लिए प्रयत्न नहीं करना चाहिए, इसमें सफलता नहीं मिलने वाली। अच्छा हो कि तुम घर वापस चले जाओ। जब तुम बड़े हो जाओगे तो ईश्वर की कृपा से

तुम्हें इन योग-कर्मों के लिए अवसर मिलेगा। उस समय तुम यह कार्य पूरा करना।

तात्पर्य : सामान्यतः भली-भाँति प्रशिक्षित व्यक्ति जीवन के अन्त में ही आत्म-सिद्धि के लिए प्रयत्न करता है। अतः वैदिक पद्धति के अनुसार जीवन चार अवस्थाओं में विभक्त है। प्रारम्भ में मनुष्य ब्रह्मचारी, अर्थात् विद्यार्थी, बनकर गुरु के अधिकृत निर्देशन में वैदिक ज्ञान प्राप्त करता है। तब वह गृहस्थ बनता है और वैदिक विधि से गृहस्थी के कर्तव्यों का पालन करता है। तब गृहस्थ वानप्रस्थ बनता है और क्रमशः ज्यों-ज्यों वह प्रौढ़ होता जाता है गृहस्थ जीवन तथा वानप्रस्थ को भी त्याग देता है और संन्यास ग्रहण करके अपने को पूर्ण रूप से भक्ति में लगाता है।

सामान्यतः लोग सोचते हैं कि बालपन तो खेलने कूदने का समय है, जवानी तरुण बालाओं के साथ आनन्द उठाने के लिए है और बुढ़ापे में जब मरने का समय निकट आए भक्ति या योग-साधना की जा सकती है। किन्तु यह निष्कर्ष उन भक्तों पर लागू नहीं होता जो वास्तव में गम्भीर हैं। नारद मुनि ध्रुव महाराज की परीक्षा लेने के लिए ऐसा उपदेश दे रहे हैं। वास्तव में सीधा आदेश तो यही है कि जीवन के किसी भी बिन्दु से भक्ति प्रारम्भ की जा सकती है। किन्तु गुरु का दायित्व है कि वह देखे कि शिष्य कितनी गम्भीरता से भक्ति में लगना चाहता है। तभी उसे दीक्षित करना चाहिए।

यस्य यद्वैवविहितं स तेन सुखदुःखयोः ।

आत्मानं तोषयन्देही तमसः पारमृच्छति ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

यस्य—कोई भी; यत्—जो; दैव—भाग्य से; विहितम्—बदा; सः—वह व्यक्ति; तेन—उससे; सुख-दुःखयोः—सुख अथवा दुःख; आत्मानम्—अपने आपको; तोषयन्—संतुष्ट; देही—आत्मा; तमसः—अंधकार के; पारम्—दूसरी ओर; ऋच्छति—पार हो जाता ।

मनुष्य को चाहिए कि जीवन की किसी भी अवस्था में, चाहे सुख हो या दुःख, जो दैवी इच्छा (भाग्य) द्वारा प्रदत्त है, सन्तुष्ट रहे। जो मनुष्य इस प्रकार टिका रहता है, वह अज्ञान के अंधकार को बहुत सरलता से पार कर लेता है।

तात्पर्य : इस संसार में पवित्र तथा अपवित्र सकाम कर्म होते हैं। जब तक भक्तिमय सेवा के अतिरिक्त कोई भी कार्य किया जाता है, तब तक इस संसार के सुख तथा दुःख ही प्राप्त होंगे। जब हम तथाकथित सुखपूर्वक जीवन-यापन करते रहते हैं, तो यह समझना चाहिए कि हमारे पुण्यकर्मों का क्षय

ही है। जब हम कष्ट में पड़ जाते हैं, तो यह समझना चाहिए कि हमारे पापकर्मों का फल कम हो रहा है। यदि हम पाप तथा पुण्यकर्मों से मिलने वाले सुख तथा दुख में आसक्त होने के बजाय इस अज्ञान के चंगुल से उबरना चाहते हैं, तो हमें ईश्वर की इच्छा को, चाहे जैसी भी स्थिति में क्यों न रहना पड़े, स्वीकार कर लेना चाहिए। इस प्रकार यदि हम भगवान् की शरण ग्रहण करें तो इस भौतिक संसार के चंगुल से छूट सकते हैं।

गुणाधिकान्मुदं लिप्सेदनुक्रोशं गुणाधमात् ।
मैत्रीं समानादन्विच्छेन्न तापैरभिभूयते ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ

गुण-अधिकात्—अधिक योग्य पुरुष से; मुदम्—प्रसन्नता; लिप्सेत्—अनुभव करे; अनुक्रोशम्—दया; गुण-अधमात्—कम योग्य पुरुष से; मैत्रीम्—मित्रता; समानात्—समान (गुण वाले) से; अन्विच्छेत्—कामना करे; न—नहीं; तापैः—दुख से; अभिभूयते—प्रभावित होता है।

प्रत्येक मनुष्य को इस प्रकार व्यवहार करना चाहिए : यदि वह अपने से अधिक योग्य व्यक्ति से मिले, तो उसे अत्यधिक हर्षित होना चाहिए, यदि अपने से कम योग्य व्यक्ति से मिले तो उसके प्रति सदय होना चाहिए और यदि अपने समान योग्यता वालों से मिले तो उससे मित्रता करनी चाहिए। इस प्रकार मनुष्य को इस भौतिक संसार के त्रिविध ताप कभी भी प्रभावित नहीं कर पाते।

तात्पर्य : सामान्यतः अपने से अधिक योग्य व्यक्ति को पाकर हम उससे ईर्ष्या करने लगते हैं, अपने से कम योग्य व्यक्ति से मिलने पर हम उस का उपहास करते हैं और अपने समान व्यक्ति को पाकर हम अपने कार्यों के प्रति गर्वित हो उठते हैं। ये ही सभी भौतिक कष्टों के कारण हैं। इसीलिए नारद मुनि ने उपदेश दिया कि भक्त को संयत भाव से आचरण करना चाहिए। अपने से अधिक योग्य व्यक्ति से द्वेष करने की अपेक्षा उसका प्रसन्नतापूर्वक स्वागत करना चाहिए। कम योग्य व्यक्ति को पीड़ा पहुँचाने के बजाय उस पर दयामय होना चाहिए जिससे वह उचित स्तर तक उठ सके। और जब समान गुण वाले किसी व्यक्ति से भेंट हो तो उसके समक्ष अपने कार्यकलापों के प्रति गर्व प्रकट न करके उसके साथ मित्र जैसा व्यवहार करना चाहिए। मनुष्य को चाहिए कि जो श्रीकृष्ण को भूल जाने के कारण कष्ट भोग रहे हैं, उन सब पर दयाभाव रखे। इन प्रमुख कार्यों से मनुष्य इसी जगत में सुखी बन

सकता है।

ध्रुव उवाच

सोऽयं शमो भगवता सुखदुःखहतात्मनाम् ।

दर्शितः कृपया पुंसां दुर्दर्शोऽस्मद्विधैस्तु यः ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

ध्रुवः उवाच—ध्रुव महाराज ने कहा; सः—वह; अयम्—यह; शमः—मन का संतुलन; भगवता—आपके द्वारा; सुख-दुःख—सुख तथा दुःख; हत-आत्मनाम्—जो प्रभावित हैं; दर्शितः—दिखाया गया; कृपया—कृपा द्वारा; पुंसाम्—लोगों का; दुर्दर्शः—देख पाना कठिन; अस्मत्-विधैः—हम जैसे व्यक्तियों द्वारा; तु—लेकिन; यः—जो भी आपने कहा।

ध्रुव महाराज ने कहा : हे नारद जी, आपने मन की शान्ति प्राप्त करने के लिए कृपापूर्वक जो भी कहा है, वह ऐसे पुरुष के लिए निश्चय ही अत्यन्त शिक्षाप्रद है, जिसका हृदय सुख तथा दुःख की भौतिक परिस्थितियों से चलायमान है। लेकिन जहाँ तक मेरा सम्बन्ध है मैं तो अविद्या से प्रच्छन्न हूँ और इस प्रकार का दर्शन मेरे हृदय को स्पर्श नहीं कर पाता।

तात्पर्य : मनुष्यों की अनेक श्रेणियाँ हैं। एक श्रेणी *अकामी* कहलाती है। वह उन मनुष्यों की है जिनके कोई भौतिक आकांक्षा नहीं रहती। आकांक्षा, चाहे भौतिक हो या दिव्य, वह तो रहती ही है। भौतिक आकांक्षा का उदय तब होता है जब कोई अपनी ही इन्द्रियों को तुष्ट करना चाहता है। जो व्यक्ति भगवान् को प्रसन्न करने के लिए किसी वस्तु की भी बलि करने को उद्यत रहता है, तो उसकी आकांक्षा दिव्य है। ध्रुव ने नारद मुनि द्वारा दिये उपदेश को ग्रहण नहीं किया, क्योंकि उन्होंने अपने को ऐसी शिक्षा के लिए सर्वथा अयोग्य समझा जो भौतिक आकांक्षाओं का दमन करती हो। किन्तु यह तथ्य नहीं है कि भौतिक आकांक्षा रखने वालों को भगवान् की पूजा करना मना है। ध्रुव के जीवन से यह एक अनिवार्य शिक्षा प्राप्त होती है। उन्होंने स्पष्ट रूप से स्वीकार किया कि उनके हृदय में भौतिक आकांक्षा है। वे अपनी विमाता के कटु वचनों से अत्यन्त प्रभावित थे, जबकि आध्यात्मिक रूप से आगे बढ़े हुए लोग किसी की निन्दा या स्तुति की परवाह नहीं करते।

भगवद्गीता में कहा गया है कि जो वास्तव में आध्यात्मिक जीवन में ऊपर उठे हुए हैं, वे इस जगत के द्वैतभाव की परवाह नहीं करते। किन्तु ध्रुव महाराज ने स्पष्ट रूप से स्वीकार किया कि वे भौतिक सुख-दुःख के प्रधातो से ऊपर नहीं हैं। उन्हें विश्वास था कि नारद का उपदेश उपयोगी है, तो भी

वे उसे स्वीकार नहीं कर पाये। यहाँ उठाया गया प्रश्न है कि भौतिक आकांक्षाओं से ग्रस्त व्यक्ति भगवान् की पूजा करने का पात्र है, अथवा नहीं? इसका उत्तर यही है कि प्रत्येक व्यक्ति ईश्वर की पूजा करने का पात्र है। भले ही मनुष्य अनेक भौतिक आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए इच्छुक हो, उसे कृष्ण-भावनामृत को अपनाना चाहिए और कृष्ण की पूजा करनी चाहिए, क्योंकि वे इतने दयालु हैं कि सबों की आकांक्षाओं को पूरा करते हैं। इस वर्णन से यह स्पष्ट है कि भले ही किसी की कितनी भौतिक आकांक्षाएँ क्यों न हों, उसे भगवान् की पूजा करने से रोका नहीं जा सकता।

अथापि मेऽविनीतस्य क्षात्रं घोरमुपेयुषः ।

सुरुच्या दुर्वचोबाणैर्न भिन्ने श्रयते हृदि ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

अथ अपि—अतः; मे—मेरा; अविनीतस्य—अविनीत का; क्षात्रम्—क्षत्रियत्व; घोरम्—असह्य; उपेयुषः—प्राप्त; सुरुच्याः—सुरुचि का; दुर्वचः—कटु वचन; बाणैः—बाणों से; न—नहीं; भिन्ने—बेधा जाकर; श्रयते—रह रहे हैं, पड़े हैं; हृदि—हृदय में।

हे भगवन्, मैं आपके उपदेशों को न मानने की धृष्टता कर रहा हूँ। किन्तु यह मेरा दोष नहीं है। यह तो क्षत्रिय कुल में जन्म लेने के कारण है। मेरी विमाता सुरुचि ने मेरे हृदय को अपने कटु वचनों से क्षत-विक्षत कर दिया है। अतः आपकी यह महत्त्वपूर्ण शिक्षा मेरे हृदय में टिक नहीं पा रही।

तात्पर्य : कहा जाता है कि हृदय अथवा मन मिट्टी के पात्र सदृश है। एक बार टूट जाने पर यह किसी प्रकार नहीं जोड़ा जा सकता। ध्रुव महाराज ने यह उदाहरण नारद के समक्ष रखा। उन्होंने कहा कि उनका हृदय विमाता के कटुवचन रूपी बाणों से इतना बिद्ध हो चुका है कि अब उस अपमान का बदला लेने की इच्छा के अतिरिक्त कुछ भी अच्छा नहीं लग रहा। उनकी विमाता ने कहा था कि वह महाराज उत्तानपाद की उपेक्षिता रानी सुनीति के गर्भ से उत्पन्न हुआ है, अतः वह न तो सिंहासन पर, न ही अपने पिता की गोद में बैठने का अधिकारी है। दूसरे शब्दों में, अपनी विमाता के अनुसार वह राजा घोषित नहीं हो सकता था। इसीलिए ध्रुव महाराज ने संकल्प किया था कि वे समस्त देवताओं में श्रेष्ठ ब्रह्मा के लोक से भी बढ़कर के किसी लोक के राजा होंगे।

ध्रुव महाराज ने अप्रत्यक्ष रूप के नारद मुनि को बता दिया कि चार प्रकार की मानवीय वृत्ति होती

है—ब्राह्मण की, क्षत्रिय की, वैश्य की तथा शूद्र की। एक जाति की वृत्ति दूसरी पर लागू नहीं होती। नारद मुनि ने जिस आध्यात्मिक वृत्ति का प्रतिपादन किया था वह ब्राह्मण वृत्ति के अनुकूल भले रही हो, किन्तु क्षत्रिय वृत्ति के अनुकूल न थी। ध्रुव ने स्पष्ट रूप से स्वीकार किया कि उसमें ब्राह्मण जैसी विनयशीलता नहीं है, अतः वे नारद मुनि के विचार (दर्शन) को स्वीकार नहीं कर सकते।

ध्रुव महाराज के कथन से सूचित होता है कि जब तक बालक को उसकी प्रवृत्ति के अनुसार शिक्षित नहीं किया जाता, तब तक वह अपनी विशेष वृत्ति को विकसित नहीं कर सकता। यह तो गुरु या शिक्षक का कर्तव्य है कि बालक विशेष की मनोवैज्ञानिक गतिविधि का निरीक्षण करे और उसे किसी विशेष व्यवसाय में प्रवृत्त करे। ध्रुव महाराज को पहले से क्षत्रिय वृत्ति की शिक्षा मिली थी, अतः वे ब्राह्मण वृत्ति को स्वीकार करने के लिए तैयार न थे। अमरीका में ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों के स्वभावों में अनुकूलता न होने के कारण व्यावहारिक कठिनाई उत्पन्न हो रही है। जिन अमरीकी बालकों को शूद्रों के समान प्रशिक्षित किया गया है, वे युद्ध-भूमि में लड़ने के लिए सर्वथा अयोग्य हैं। अतः जब उन्हें सेना में सम्मिलित होने के लिए कहा जाता है, तो वे इनकार कर देते हैं, क्योंकि उनमें क्षत्रिय वृत्ति नहीं रहती। समाज में इससे महान् असन्तोष है।

यदि उन बालकों में क्षत्रिय वृत्ति नहीं है, तो इसका अर्थ यह भी नहीं है कि वे ब्राह्मण-गुणों में प्रशिक्षित हैं। उन्हें तो शूद्र रूप में प्रशिक्षित किया गया है, अतः वे आक्रोश के कारण हिप्पी बन रहे हैं। किन्तु वे जैसे ही अमरीका में चलाये जा रहे कृष्णभावनामृत-आन्दोलन में प्रवेश करते हैं उन्हें ब्राह्मण-गुण अर्जित करने की शिक्षा दी जाती है, यद्यपि वे शूद्र की निम्नतम अवस्था को प्राप्त रहते हैं। दूसरे शब्दों में, चूँकि कृष्णभावनामृत-आन्दोलन के द्वार सबों के लिए खुले हैं, अतः लोग सामान्यतः ब्राह्मण-गुणों को प्राप्त कर सकते हैं। आज के समय की यही सबसे बड़ी आवश्यकता है, क्योंकि ब्राह्मण या क्षत्रिय बहुत की कम हैं, केवल कुछ वैश्य हैं और अधिकांश शूद्र हैं। समाज का ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र में वर्गीकरण अत्यंत वैज्ञानिक है। मानवीय समाज रूपी शरीर में ब्राह्मण सिर हैं, क्षत्रिय बाहु हैं, वैश्य उदर हैं और शूद्र पाँव हैं। इस समय शरीर में पाँव तथा उदर रह गये हैं, बाहु या सिर नहीं है, अतः सारा समाज अस्त-व्यस्त हो गया है। पतित मानव-समाज को आत्म-चेतना के स्तर

तक उठाने के लिए ब्राह्मण-गुणों की पुनर्स्थापना की आवश्यकता है।

पदं त्रिभुवनोत्कृष्टं जिगीषोः साधु वर्त्म मे ।
ब्रह्मस्मत्पितृभिर्ब्रह्मन्नन्यैरप्यनधिष्ठितम् ॥ ३७ ॥

शब्दार्थ

पदम्—पद; त्रि-भुवन—तीनों लोक; उत्कृष्टम्—सर्वश्रेष्ठ; जिगीषोः—इच्छुक; साधु—ईमानदार; वर्त्म—राह; मे—मुझको;
ब्रह्मि—कहो; अस्मत्—हमारा; पितृभिः—पूर्वजों, पिता तथा पितामह द्वारा; ब्रह्मन्—हे महान् ब्राह्मण; अन्यैः—अन्यों द्वारा;
अपि—भी; अनधिष्ठितम्—प्राप्त नहीं हो सका।

हे विद्वान् ब्राह्मण, मैं ऐसा पद ग्रहण करना चाहता हूँ जिसे अभी तक तीनों लोकों में किसी ने भी, यहाँ तक कि मेरे पिता तथा पितामहों ने भी, ग्रहण न किया हो। यदि आप अनुगृहीत कर सकें तो कृपा करके मुझे ऐसे सत्य मार्ग की सलाह दें, जिसे अपना करके मैं अपने जीवन के लक्ष्य को प्राप्त कर सकूँ।

तात्पर्य : जब ध्रुव महाराज ने नारद मुनि से ब्राह्मण उपदेश ग्रहण करना अस्वीकार कर दिया तो स्वभावतः अगला प्रश्न यही उठता है कि वे कैसा उपदेश चाह रहे थे। यहाँ तक कि नारद के पूछने के पहले ही ध्रुव ने अपनी हार्दिक इच्छा प्रकट कर दी। निस्सन्देह, उनका पिता चक्रवर्ती सम्राट था और पितामह ब्रह्मा ब्रह्माण्ड को स्रष्टा। ध्रुव महाराज ने अपने पिता तथा पितामह से भी बढ़कर श्रेष्ठ साम्राज्य प्राप्त करने की आकांक्षा व्यक्त की। उन्होंने स्पष्ट कहा था कि वे ऐसा राज्य चाहते हैं जिसका तीनों लोकों में कोई प्रतियोगी न हो। इस ब्रह्माण्ड के सबसे महान् पुरुष ब्रह्मा हैं और ध्रुव महाराज इनसे भी श्रेष्ठ पद प्राप्त करना चाह रहे थे। वे नारद की उपस्थिति का लाभ उठाना चाह रहे थे क्योंकि उन्हें पता था कि यदि श्रीकृष्ण के सबसे बड़े भक्त नारद मुनि उन्हें आशीर्वाद दें अथवा मार्गदर्शन करें तो निश्चय ही वे तीनों लोकों में किसी भी व्यक्ति से उच्चतर पद प्राप्त कर सकते हैं। इस प्रकार वे उस पद को प्राप्त करने में नारद जी की सहायता चाह रहे थे। वे ब्रह्मा से भी बड़ा पद प्राप्त करना चाहते थे। यह व्यवहारतः असम्भव बात थी, किन्तु भगवान् को प्रसन्न करके भक्त द्वारा असम्भव को भी सम्भव बनाया जा सकता है।

यहाँ पर जो एक विशेष बात कही गई है, वह यह है कि ध्रुव महाराज उच्च पद ग्रहण करना चाह रहे थे, किन्तु छल-छद्म से नहीं, वरन् सच्चे साधनों से। इससे सूचित होता है कि यदि कृष्ण उन्हें ऐसा

पद दें तो वे उसे स्वीकार कर लेंगे। ऐसा भक्त का स्वभाव होता है। वह भौतिक लाभ की इच्छा कर सकता है, किन्तु उसे तभी स्वीकार करता है जब कृष्ण प्रदान करते हैं। ध्रुव महाराज को दुख था कि वे नारद मुनि के उपदेश को नहीं मान पा रहे थे; इसीलिए उन्होंने नारद जी से प्रार्थना की कि वे कृपालु होकर उन्हें ऐसा मार्ग दिखाएँ जिससे उनकी आन्तरिक अभिलाषा पूर्ण हो सके।

नूनं भवान्भगवतो योऽङ्गजः परमेष्ठिनः ।

वितुदन्नटते वीणां हिताय जगतोऽर्कवत् ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

नूनम्—निश्चय ही; भवान्—आप; भगवतः—भगवान् के; यः—जो; अङ्ग-जः—शरीर से उत्पन्न; परमेष्ठिनः—ब्रह्मा; वितुदन्—बजाते हुए; अटते—सर्वत्र विचरण करते हो; वीणाम्—वीणा; हिताय—कल्याण के लिए; जगतः—संसार के; अर्क-वत्—सूर्य के समान।

हे भगवान्, आप ब्रह्मा के सुयोग्य पुत्र हैं और आप अपनी वीणा बजाते हुए समस्त विश्व के कल्याण हेतु विचरण करते रहते हैं। आप सूर्य के समान हैं, जो समस्त जीवों के लाभ के लिए ब्रह्माण्ड-भर में चक्कर काटता रहता है।

तात्पर्य : ध्रुव महाराज यद्यपि बालक थे, किन्तु उन्होंने आशा व्यक्त की कि उन्हें राज्य-प्राप्ति का वरदान प्राप्त हो, जो ऐश्वर्य में उनके बाप-दादों के ऐश्वर्य से बढ़कर हो। उन्होंने आभार भी व्यक्त की कि नारद जैसे महापुरुष से उनकी भेंट हुई है जिनका कार्य सूर्य के समान घूम-घूम कर विश्व को आलोकित करना है। नारद मुनि सारे ब्रह्माण्ड की यात्रा एकमात्र इस उद्देश्य से करते रहते हैं कि प्रत्येक जीव को वे भगवान् का भक्त बनना सिखा कर उसका कल्याण कर सकें। इस प्रकार ध्रुव महाराज को पूरा विश्वास हो गया था कि नारद मुनि उनकी इच्छा की पूर्ति कर सकते हैं, भले ही उनकी यह इच्छा अपूर्व थी।

यहाँ पर सूर्य का उदाहरण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। सूर्य इतना दयालु है कि बिना किसी भेदभाव के वह सर्वत्र प्रकाश संवितरित करता रहता है। ध्रुव महाराज ने नारद मुनि से प्रार्थना की कि वे उन पर कृपालु हों। उन्होंने इशारा किया कि समस्त बद्धजीवों का कल्याण करने के लिए नारद जी सारे ब्रह्माण्ड में विचरते रहते हैं। उन्होंने प्रार्थना की कि नारद मुनि उनकी विशेष इच्छा पूरी करने का वरदान देकर अनुग्रह करें। ध्रुव महाराज अपनी इच्छा की पूर्ति के लिए कृत-संकल्प थे और इसी के

लिए ही तो उन्होंने अपना घर तथा महल त्यागा था।

मैत्रेय उवाच

इत्युदाहृतमाकर्ण्य भगवान्नारदस्तदा ।

प्रीतः प्रत्याह तं बालं सद्वाक्यमनुकम्पया ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय मुनि ने कहा; इति—इस प्रकार; उदाहृतम्—कहा जाकर; आकर्ण्य—सुन कर; भगवान् नारदः—महापुरुष नारद; तदा—तब; प्रीतः—प्रसन्न होकर; प्रत्याह—उत्तर दिया; तम्—उस; बालम्—बालक को; सत्-वाक्यम्—अच्छा उपदेश; अनुकम्पया—कृपावश।

मैत्रेय मुनि ने आगे कहा : ध्रुव महाराज के शब्दों को सुनकर महापुरुष नारद मुनि उन पर अत्यधिक दयालु हो गये और अपनी अहैतुकी कृपा दिखाने के उद्देश्य से उन्होंने निम्नलिखित विशिष्ट उपदेश दिया।

तात्पर्य : चूँकि नारद मुनि अग्रणी गुरु हैं, अतः स्वाभाविक है कि जो भी उनसे मिले उसको सर्वाधिक लाभ पहुँचाएँ। किन्तु ध्रुव महाराज बालक थे, अतः उनकी माँग भी एक खेलते बालक जैसी थी। तो भी महामुनि उन पर अत्यधिक दयालु हो गये और उनके कल्याण के लिए निम्नलिखित श्लोक कहे।

नारद उवाच

जनन्याभिहितः पन्थाः स वै निःश्रेयसस्य ते ।

भगवान्वासुदेवस्तं भज तं प्रवणात्मना ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

नारदः उवाच—नारद मुनि ने कहा; जनन्या—अपनी माता के द्वारा; अभिहितः—कहे गये; पन्थाः—पथ; सः—उस; वै—निश्चय ही; निःश्रेयसस्य—जीवन का परम लक्ष्य; ते—तुम्हारे लिए; भगवान्—भगवान्; वासुदेवः—श्रीकृष्ण; तम्—उसकी; भज—सेवा करो; तम्—उसके द्वारा; प्रवण-आत्मना—अपने मन को एकाग्र करके।

नारद मुनि ने ध्रुव महाराज से कहा : तुम्हारी माता सुनीति ने भगवान् की भक्ति के पथ का अनुसरण करने के लिए जो उपदेश दिया है, वह तुम्हारे लिए सर्वथा अनुकूल है। अतः तुम्हें भगवान् की भक्ति में पूर्ण रूप से निमग्न हो जाना चाहिए।

तात्पर्य : ध्रुव महाराज ब्रह्मा से भी श्रेष्ठतर धाम प्राप्त करना चाहते थे। इस ब्रह्माण्ड में ब्रह्मा का पद सबसे बड़ा माना जाता है, क्योंकि वे समस्त देवताओं के प्रधान हैं, किन्तु ध्रुव महाराज उनसे भी

बढ़कर कोई धाम चाह रहे थे। अतः उनकी इच्छा किसी देवता को पूज कर पूरी नहीं हो सकती थी। जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है, देवताओं द्वारा दिये गये वरदान क्षणिक होते हैं, अतः नारद मुनि ने ध्रुव महाराज को उनकी माता द्वारा बताये गये पथ—वासुदेव श्रीकृष्ण की पूजा—का अनुसरण करने के लिए कहा। जब श्रीकृष्ण कोई वस्तु प्रदान करते हैं, तो वह भक्तों की आशा से परे (अपूर्व) होती है। सुनीति तथा नारद मुनि दोनों ही जानते थे कि ध्रुव महाराज की माँग को पूरा कर पाना किसी देवता के वश की बात नहीं है, अतः दोनों ने भगवान् कृष्ण की भक्ति के पथ का अनुसरण करने की सलाह दी।

यहाँ पर नारद मुनि को भगवान् कहा गया है, क्योंकि वे भी भगवान् के ही समान किसी भी व्यक्ति को आशीर्वाद दे सकते हैं। वे ध्रुव महाराज से परम प्रसन्न थे और वे चाहते तो तुरन्त ही मनवांछित वर दे सकते थे, किन्तु गुरु का यह कर्तव्य नहीं है। उसका कर्तव्य तो शास्त्रानुमोदित रीति से शिष्य को भक्ति में लगाना है। इसी प्रकार अर्जुन के समक्ष श्रीकृष्ण उपस्थित थे और वे चाहते तो बिना युद्ध के विपक्षी दल पर विजय करा देते, किन्तु उन्होंने वैसा नहीं किया, अपितु उन्होंने उससे युद्ध करने के लिए कहा। इसी प्रकार नारद मुनि ने ध्रुव महाराज को वांछित फल प्राप्त करने के लिए भक्ति-पथ का अनुसरण करने के लिए कहा।

धर्मार्थकाममोक्षाख्यं य इच्छेच्छ्रेय आत्मनः ।
एकं ह्येव हरेस्तत्र कारणं पादसेवनम् ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष—धर्म, आर्थिक विकास, इन्द्रिय-तृप्ति तथा मुक्ति, ये चार पुरुषार्थ; आख्यम्—नाम से; यः—जो; इच्छेत्—इच्छा करता है; श्रेयः—जीवन का लक्ष्य; आत्मनः—स्वयं का; एकम् हि एव—केवल एक; हरेः—भगवान् का; तत्र—उसमें; कारणम्—कारण; पाद-सेवनम्—चरणकमल की पूजा।

जो व्यक्ति धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष—इन चार पुरुषार्थों की कामना करता है उसे चाहिए कि पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की भक्ति में अपने आपको लगाए, क्योंकि उनके चरणकमलों की पूजा से इन सबकी पूर्ति होती है।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* में कहा गया है कि भगवान् की अनुमति से ही देवता वरदान दे सकते हैं। अतः जब किसी देवता के लिए कोई यज्ञ किया जाता है, तो यज्ञ का निरीक्षण करने के लिए *नारायण-*

शिला या शालग्राम-शिला सामने रखी जाती है। वस्तुतः परमेश्वर की अनुमति के बिना देवता कोई वरदान नहीं दे सकते। अतः नारद मुनि ने सलाह दी कि धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष के लिए भी मनुष्य को भगवान् की शरण ग्रहण करनी चाहिए, स्तुति करनी चाहिए और उनके चरणकमलों पर अपनी इच्छा की पूर्ति के लिए याचना करनी चाहिए। यही वास्तविक बुद्धिमानी है। बुद्धिमान पुरुष कभी भी देवताओं से कुछ भी माँगने नहीं जाता। वह सीधे भगवान् के पास जाता है, जो समस्त वरदानों के कारणस्वरूप हैं।

जैसाकि भगवान् श्रीकृष्ण ने भगवद्गीता में कहा है कर्मकाण्ड-अनुष्ठानों का सम्पन्न किया जाना वास्तविक धर्म नहीं है। धर्म का वास्तविक पथ तो भगवान् के चरणकमलों पर समर्पित होना है। जो भगवान् के चरणकमलों पर समर्पित हो चुका है उसके लिए अर्थ का कोई महत्त्व नहीं रह जाता। जो भक्त भगवान् की सेवा में लगा रहता है, वह अपनी इन्द्रियों की तुष्टि के बारे में कभी भी निराश नहीं होता। यदि वह अपनी इन्द्रियों की तुष्टि चाहता है, तो श्रीकृष्ण वह भी इच्छा पूरी करते हैं। जहाँ तक मुक्ति का प्रश्न है, कोई भी भक्त जो भगवान् की सेवा में पूर्णतः अनुरक्त है, वह पहले से मुक्त रहता है, अतः अलग से मोक्ष की कोई आवश्यकता नहीं है।

अतः नारद मुनि ने ध्रुव महाराज को सलाह दी कि वे वासुदेव श्रीकृष्ण की शरण ग्रहण करें और अपनी माता द्वारा बताई गई विधि को मानें, क्योंकि इस प्रकार उनकी इच्छा पूर्ण होने में सहायता मिल सकेगी। इस श्लोक में नारद मुनि ने भगवान् की भक्ति को ही एकमात्र साधन बताया है। दूसरे शब्दों में, समस्त भौतिक आकांक्षाओं से युक्त होने पर भी मनुष्य को भगवान् की भक्ति करते रहना चाहिए। इससे उसकी समस्त इच्छाएँ पूरी होंगी।

तत्तात गच्छ भद्रं ते यमुनायास्तटं शुचि ।

पुण्यं मधुवनं यत्र सान्निध्यं नित्यदा हरेः ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

तत्—उस; तात—हे पुत्र; गच्छ—जाओ; भद्रम्—शुभ हो; ते—तुम्हारा; यमुनायाः—यमुना का; तटम्—किनारा, तट; शुचि—शुद्ध; पुण्यम्—पवित्र; मधु-वनम्—मधुवन नामक; यत्र—जहाँ; सान्निध्यम्—निकट होते हुए; नित्यदा—सदैव; हरेः—भगवान् के।

हे बालक, तुम्हारा कल्याण हो। तुम यमुना के तट पर जाओ, जहाँ पर मधुवन नामक

विख्यात जंगल है और वहीं पर पवित्र होओ। वहाँ जाने से ही मनुष्य वृन्दावनवासी भगवान् के निकट पहुँचता है।

तात्पर्य : नारद मुनि तथा ध्रुव महाराज की माता सुनीति दोनों ने ही ध्रुव महाराज को भगवान् की उपासना करने के लिए सलाह दी। अब नारद मुनि विशेष रूप से निर्देश दे रहे हैं कि भगवान् की यह आराधना किस प्रकार जल्द ही फलवती हो। वे ध्रुव महाराज को यमुना के तट पर, जहाँ मधुवन नामक वन है, जाकर ध्यान करने और जप करने की सलाह देते हैं।

आध्यात्मिक जीवन में शीघ्र प्रगति के लिए भक्त को तीर्थस्थान से विशेष लाभ प्राप्त होता है। यद्यपि भगवान् श्रीकृष्ण सर्वत्र वास करते हैं, किन्तु इन पवित्र स्थानों में जाने से उनके निकट तक पहुँचने में सरलता होती है, क्योंकि ऐसे स्थानों में बड़े-बड़े ऋषि-मुनि रहते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि जहाँ कहीं भी उनके भक्त उनकी दिव्य लीलाओं का कीर्तन करते हैं, वहीं वे वास करते हैं। भारत में अनेक तीर्थस्थान हैं। इनमें से बदरीनारायण, द्वारका, रामेश्वरम तथा जगन्नाथपुरी प्रमुख हैं। ये पवित्र स्थान चारों धाम कहलाते हैं। धाम का अर्थ है ऐसा स्थान जहाँ भगवान् से तुरन्त सम्पर्क स्थापित हो सके। बदरीनारायण जाने के लिए हरद्वार होकर जाना होता है। इसी प्रकार अन्य तीर्थस्थल हैं, यथा प्रयाग (इलाहाबाद) तथा मथुरा, और इन सबों में सर्वोपरि है वृन्दावन। जब तक कोई आध्यात्मिक जीवन में बहुत ऊपर उठा नहीं होता, उसे ऐसे स्थानों में रहकर भक्ति करने की संस्तुति की जाती है। किन्तु नारद मुनि जैसा सिद्ध भक्त, जो सदैव प्रचार कार्य में लगा रहता है, कहीं भी भगवान् की सेवा कर सकता है। कभी-कभी नारद नरक लोक में भी जाते हैं। उन्हें नारकीय अवस्थाएँ प्रभावित नहीं करती, क्योंकि वे भक्ति के अत्यन्त उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य में व्यस्त रहते हैं। नारद मुनि के अनुसार वृन्दावन, जो मथुरा जिले के वृन्दावन क्षेत्र में स्थित है, सबसे अधिक पवित्र स्थान है। आज भी अनेक साधु पुरुष वहाँ रहकर भगवान् की भक्ति करते हैं।

वृन्दावन क्षेत्र में बारह वन हैं और मधुवन इनमें से एक है। भारत भर के तीर्थयात्री एकत्र होकर इन बारहों वनों का दर्शन करते हैं। इनमें से पाँच वन यमुना के पूर्वी तट पर हैं। ये हैं—भद्रवन, विल्ववन, लौहवन, भाण्डीरवन तथा महावन। यमुना के पश्चिमी तट पर सात वन हैं, जो इस प्रकार

हैं—मधुवन, तालवन, कुमुदवन, बहुलावन, काम्यवन, खदिरवन तथा वृन्दावन। इन बारहों वनों में विभिन्न घाट हैं जिनके नाम इस प्रकार हैं—(१) अविमुक्त, (२) अधिरूढ़, (३) गुह्य-तीर्थ, (४) प्रयाग-तीर्थ, (५) कनखल, (६) तिन्दुक-तीर्थ, (७) सूर्य-तीर्थ, (८) वटस्वामी, (९) ध्रुव-घाट (जहाँ अनेक फल तथा पुष्प वृक्ष हैं। यह स्थान प्रसिद्ध है क्योंकि यहीं पर ध्रुव महाराज ने ऊँचे चबूतरे पर तपस्या की थी), (१०) ऋषि-तीर्थ, (११) मोक्ष-तीर्थ, (१२) बुद्ध-तीर्थ, (१३) गोकर्ण, (१४) कृष्ण-गंगा, (१५) वैकुण्ठ, (१६) असि-कुंड, (१७) चतुःसामुद्रिक कूप, (१८) अक्रूर-तीर्थ (जब अक्रूर के रथ से कृष्ण तथा बलराम मथुरा जा रहे थे तो इसी घाट में सबों ने स्नान किया था), (१९) याज्ञिक-विप्र-स्थान, (२०) कुब्जा-कूप, (२१) रंग-स्थल, (२२) मंच-स्थल, (२३) मल्लयुद्ध-स्थान तथा (२४) दशाश्वमेध।

स्नात्वानुसवनं तस्मिन्कालिन्द्याः सलिले शिवे ।

कृत्वोचितानि निवसन्नात्मनः कल्पितासनः ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

स्नात्वा—स्नान करके; अनुसवनम्—तीन बार; तस्मिन्—उस; कालिन्द्याः—कालिन्दी नदी (यमुना) में; सलिले—जल में; शिवे—शुभ; कृत्वा—करके; उचितानि—उपयुक्त; निवसन्—बैठ कर; आत्मनः—स्वयं का; कल्पित-आसनः—आसन बनाकर।

नारद मुनि ने उपदेश दिया : हे बालक, यमुना नदी अथवा कालिन्दी के जल में तुम नित्य तीन बार स्नान करना, क्योंकि यह जल शुभ, पवित्र एवं स्वच्छ है। स्नान के पश्चात् अष्टांगयोग के आवश्यक अनुष्ठान करना और तब शान्त मुद्रा में अपने आसन पर बैठ जाना।

तात्पर्य : ऐसा प्रतीत होता है कि ध्रुव महाराज को पहले ही अष्टांग-योग-विधि का अभ्यास करना बता दिया गया था। इस विधि की व्याख्या हमारी पुस्तक *भगवद्गीता यथारूप* के सांख्य योग शीर्षक के अध्याय छह श्लोक ११ से १५ में की गई है। अष्टांग योग में मन को स्थिर किया जाता है और फिर विष्णु के रूप में केन्द्रित किया जाता है, जैसाकि अगले श्लोकों में बताया गया है। यहाँ यह स्पष्ट कहा गया है कि अष्टांग योग कोई शारीरिक व्यायाम नहीं, वरन् विष्णु के स्वरूप के साथ मन को एकाग्र करने का अभ्यास है। आसन में बैठने के पूर्व जैसा भगवद्गीता में कहा गया है मनुष्य को नित्य स्वच्छ अथवा पवित्र जल से प्रति दिन तीन बार अपने को शुद्ध करना होता है। यमुना का जल

स्वभावतः अत्यन्त स्वच्छ तथा शुद्ध रहता है, अतः जो भी इसमें तीन बार स्नान करता है, निस्सन्देह, बाहर से वह अत्यधिक शुद्ध हो जाता है। इसीलिए नारद मुनि ने ध्रुव महाराज को सलाह दी कि वे यमुना तट पर जाएँ और बाहर से शुद्ध हो लें। योग-अभ्यास की क्रमिक विधि का यह अंग है।

प्राणायामेन त्रिवृता प्राणेन्द्रियमनोमलम् ।

शनैर्व्युदस्याभिध्यायेन्मनसा गुरुणा गुरुम् ॥ ४४ ॥

शब्दार्थ

प्राणायामेन—प्राणायाम (श्वास की कसरत) से; त्रि-वृता—तीन विधियों से; प्राण-इन्द्रिय—प्राणवायु तथा इन्द्रियाँ; मनः—मन; मलम्—अशुद्धि; शनैः—धीरे-धीरे; व्युदस्य—छोड़कर; अभिध्यायेत्—ध्यान धरो; मनसा—मन से; गुरुणा—अविचल; गुरुम्—परम गुरु, श्रीकृष्ण को।

आसन ग्रहण करने के पश्चात् तुम तीन प्रकार के प्राणायाम करना और इस प्रकार धीरे-धीरे प्राणवायु, मन तथा इन्द्रियों को वश में करना। अपने को समस्त भौतिक कल्मष से मुक्त करके तुम अत्यन्त धैर्यपूर्वक भगवान् का ध्यान प्रारम्भ करना।

तात्पर्य : इस श्लोक में संक्षेप में सारी योग-विधि वर्णित है और मन को विचलित होने से रोकने के लिए प्राणायाम पर विशेष बल दिया गया है। मन स्वभावतः सदैव दोलायमान रहता है क्योंकि वह चंचल है, किन्तु प्राणायाम से इसे रोका जा सकता है। लाखों वर्ष पूर्व जब ध्रुव महाराज ने प्राणायाम का अभ्यास किया, तो उस समय मन को इस प्रकार वश में करना सम्भव रहा होगा, किन्तु आज के समय में तो कीर्तन द्वारा मन को सीधे भगवान् के चरणकमलों में स्थिर करना होता है। हरे कृष्ण मंत्र का जाप करके मनुष्य तुरन्त शब्दोच्चार में केन्द्रित होकर भगवान् के चरणकमल का चिन्तन करता है और शीघ्र ही वह समाधि की दशा को प्राप्त हो जाता है। यदि कोई भगवान् के पवित्र नामों का कीर्तन करता रहे तो स्वाभाविक है कि उसका मन भगवान् के विचार में मग्न हो जाए, क्योंकि भगवान् के नाम भगवान् से भिन्न नहीं हैं।

यहाँ पर संस्तुति की गई है कि ध्रुव महाराज परम गुरु का ध्यान करें। परम गुरु तो श्रीकृष्ण हैं, जो चैत्य गुरु कहलाते हैं, जिसका अर्थ है परमात्मा, जो प्रत्येक प्राणी के हृदय में स्थित हैं। जैसाकि भगवद्गीता में कहा गया है, परमात्मा अन्तर से सहायता करते हैं और गुरु भेज देते हैं जो बाहर से सहायता करता है। गुरु तो चैत्य गुरु अर्थात् प्रत्येक के हृदय में स्थित परमात्मा का बाह्य प्राकट्य है।

जिस विधि से हम भौतिक वस्तुओं के प्रति अपने विचारों का परित्याग करते हैं वह प्रत्याहार कहलाती है, जिसमें समस्त भौतिक विचारों तथा व्यापारों से मुक्त होना सम्मिलित है। इस श्लोक में प्रयुक्त अभिधायेत् शब्द सूचित करता है कि जब तक मनुष्य का मन स्थिर नहीं हो जाता, तब तक वह ध्यान नहीं कर सकता। अतः निष्कर्ष यह निकला कि ध्यान का अर्थ है अन्तः में भगवान् के विषय में सोचना। चाहे अष्टांग योग से यह अवस्था प्राप्त की जाये या इस युग के लिए शास्त्रों द्वारा बताई गई नाम-कीर्तन की विधि से प्राप्त की जाये, दोनों का उद्देश्य भगवान् के विषय में ध्यान करना है।

प्रसादाभिमुखं शश्वत्प्रसन्नवदनेक्षणम् ।

सुनासं सुध्रुवं चारुकपोलं सुरसुन्दरम् ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

प्रसाद-अभिमुखम्—सदैव अहैतुकी कृपा करने के लिए तत्पर; शश्वत्—सदैव; प्रसन्न—हर्षित; वदन—मुख; ईक्षणम्—दृष्टि; सु-नासम्—सुन्दर नाक; सु-ध्रुवम्—सुसज्जित भौंहें; चारु—सुन्दर; कपोलम्—कपोल; सुर—देवता; सुन्दरम्—देखने में सुन्दर।

[यहाँ पर भगवान् के रूप का वर्णन हुआ है।] भगवान् का मुख सदैव अत्यन्त सुन्दर और प्रसन्न मुद्रा में रहता है। देखने वाले भक्तों को वे कभी अप्रसन्न नहीं दिखते और वे सदैव उन्हें वरदान देने के लिए उद्यत रहते हैं। उनके नेत्र, सुसज्जित भौंहें, उन्नत नासिका तथा चौड़ा मस्तक—ये सभी अत्यन्त सुन्दर हैं। वे समस्त देवताओं से अधिक सुन्दर हैं।

तात्पर्य : इस श्लोक में भगवान् के रूप के ध्यान करने की स्पष्ट विधि का वर्णन है। निर्गुण ध्यान आधुनिक युग की नकली खोज है। किसी भी वैदिक ग्रंथ में निर्गुण ध्यान की संस्तुति नहीं की गई। भगवद्गीता में, जहाँ ध्यान की संस्तुति की गई है, मत्परः शब्द व्यवहृत हुआ है, जिसका अर्थ है, “मुझसे सम्बन्धित।” विष्णु का कोई भी रूप भगवान् श्रीकृष्ण से सम्बन्धित है क्योंकि श्रीकृष्ण ही आदि विष्णु रूप हैं। कभी-कभी कुछ लोग निर्गुण ब्रह्म का ध्यान करने का प्रयास करते हैं जिसका उल्लेख भगवद्गीता में अव्यक्त अर्थात् अप्रकट या निर्गुण कहकर किया गया है। किन्तु भगवान् ने स्वयं यह बतलाया है कि जो भगवान् के निर्गुण रूप के प्रति आसक्त हैं उन्हें अत्यन्त कठिनाई का सामना करना पड़ता है, क्योंकि कोई भी निर्गुण रूप पर ध्यान केन्द्रित नहीं कर सकता। मनुष्य को चाहिए कि भगवान् के उस रूप पर ध्यान केन्द्रित करे जिसका वर्णन यहाँ ध्रुव महाराज के ध्यान के

प्रसंग में हुआ है। जैसाकि आगे चलकर स्पष्ट हो जाएगा, ध्रुव महाराज ने इस प्रकार के ध्यान में प्रवीणता प्राप्त की और उनका योग सफल हुआ।

तरुणं रमणीयाङ्गमरुणोष्ठेक्षणाधरम् ।
प्रणताश्रयणं नृम्णं शरण्यं करुणार्णवम् ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

तरुणम्—जवान्; रमणीय—आकर्षक; अङ्गम्—शरीर के सभी अंग; अरुण-ओष्ठ—उदीयमान सूर्य की तरह लाल-लाल होंठ; ईक्षण-अधरम्—उसी प्रकार की आँखें; प्रणत—शरणागत; आश्रयणम्—शरणागतों की शरण (आश्रय); नृम्णम्—दिव्य रूप से मनोहर; शरण्यम्—जिसकी शरण में जाने योग्य हो; करुणा—मानो दया से पूर्ण; अर्णवम्—समुद्र।

नारद मुनि ने आगे कहा : भगवान् का रूप सदैव युवावस्था में रहता है। उनके शरीर का अंग-प्रत्यंग सुगठित एवं दोषरहित है। उनके नेत्र तथा होंठ उदीयमान सूर्य की भाँति गुलाबी से हैं। वे शरणागतों को सदैव शरण देने वाले हैं और जिसे उनके दर्शन का अवसर मिलता है, वह सभी प्रकार से संतुष्ट हो जाता है। दया के सिन्धु होने के कारण भगवान् शरणागतों के स्वामी होने के योग्य हैं।

तात्पर्य : हर एक को अपने से बड़े के प्रति समर्पण करना पड़ता है। हम जीवों की यही प्रकृति है। इस समय हम किसी के प्रति समर्पण करने का प्रयास करते रहते हैं—चाहे वह समाज हो, या राष्ट्र, परिवार, राजसत्ता या सरकार। समर्पण की प्रणाली पहले से विद्यमान है, किन्तु यह कभी-भी पूर्ण नहीं, क्योंकि जिस व्यक्ति या संस्था को हम समर्पण करते हैं, वह अपूर्ण है और अनेक चरम प्रयोजनों के कारण हमारा समर्पण भी अधूरा है। फलतः इस भौतिक जगत में न तो कोई किसी के समर्पण को स्वीकार करने का सुपात्र है और न कोई तब तक पूर्ण रूप से समर्पित होता है, जब तक वह ऐसा करने के लिए बाध्य न हो जाय। किन्तु यहाँ समर्पण-विधि ऐच्छिक है और भगवान् इस समर्पण को स्वीकार करने के सर्वथा योग्य हैं। जीव का यह समर्पण उस समय स्वतः हो जाता है जब मनुष्य भगवान् के तरुण रूप को देखता है।

नारद मुनि ने जो विवरण दिया है, वह काल्पनिक नहीं है। भगवान् के रूप को परम्परा से समझा जा सकता है। मायावादी दार्शनिकों का कहना है कि उन्हें उस भगवान् के रूप की कल्पना करनी पड़ती है, किन्तु नारद मुनि ने ऐसा नहीं कहा। अपितु वे भगवान् का वर्णन प्रामाणिक स्रोतों से करते

हैं। वे स्वयं अधिकारी हैं, वे वैकुण्ठलोक जा सकते हैं और भगवान् का साक्षात् दर्शन कर सकते हैं। उनका अतः भगवान् के अंगों का शारीरिक वर्णन काल्पनिक नहीं हैं। कभी-कभी हम अपने विद्यार्थियों को भगवान् के शारीरिक स्वरूप के विषय में शिक्षा देते हैं और वे उसका चित्रण करते हैं। उनके चित्रण काल्पनिक नहीं होते। यह विवरण शिष्य-परम्परा से प्राप्त होता है, जैसाकि नारदमुनि से प्राप्त होता है जिन्होंने भगवान् तथा उनके शारीरिक स्वरूप का दर्शन किया है। अतः ऐसे विवरणों को, यदि वे चित्रित हों, तो स्वीकार कर लेना चाहिए; यह काल्पनिक चित्रण नहीं है।

श्रीवत्साङ्गं घनश्यामं पुरुषं वनमालिनम् ।
शङ्खचक्रगदापद्मैरभिव्यक्तचतुर्भुजम् ॥ ४७ ॥

शब्दार्थ

श्रीवत्स-अङ्गम्—भगवान् के वक्षस्थल पर श्रीवत्स का चिह्न; घन-श्यामम्—गहरा नीला; पुरुषम्—परम पुरुष; वन-मालिनम्—फूलों की माला से युक्त; शङ्ख—शंख; चक्र—चक्र; गदा—गदा; पद्मैः—कमल पुष्प से; अभिव्यक्त—प्रकट; चतुः-भुजम्—चार हाथों वाले को।

भगवान् को श्रीवत्स चिह्न अथवा ऐश्वर्य की देवी का आसन धारण किये हुए बताया गया है। उनके शरीर का रंग गहरा नीला (श्याम) है। भगवान् पुरुष हैं, वे फूलों की माला पहनते हैं और वे चतुर्भुज रूप में (नीचेवाले बाएँ हाथ से आरम्भ करते हुए) शंख, चक्र, गदा तथा कमल पुष्प धारण किये हुए नित्य प्रकट होते हैं।

तात्पर्य : इस श्लोक में पुरुषम् शब्द अत्यन्त सार्थक है। ईश्वर कभी स्त्री रूप में नहीं रहते। वे हमेशा पुरुष रूप हैं। अतः जो निर्गुणवादी भगवान् की कल्पना स्त्री रूप में करते हैं, वे भ्रम में हैं। आवश्यकता पड़ने पर भगवान् स्त्री रूप में प्रकट होते हैं, किन्तु उनका शाश्वत मूल रूप पुरुष का है। भगवान् का स्त्री-रूप लक्ष्मी, राधारानी, सीता इत्यादि रूप में है। ये सभी देवियाँ भगवान् की दासियाँ हैं, वे कभी प्रधान नहीं, जैसाकि निर्गुणवादी भ्रान्तिवश कल्पना करते हैं। श्रीकृष्ण अपने नारायण रूप में सदैव चतुर्भुज रहते हैं। कुरुक्षेत्र के युद्धस्थल में जब अर्जुन ने उनका विराट रूप देखना चाहा तो उन्होंने अपने चतुर्भुज नारायण रूप का दर्शन कराया। कुछ भक्त इस मत के हैं कि श्रीकृष्ण नारायण के अवतार हैं, किन्तु भागवत मतावलम्बियों का कथन है कि नारायण श्रीकृष्ण का ही प्राकट्य है।

किरीटिनं कुण्डलिनं केयूरवलयान्वितम् ।
कौस्तुभाभरणग्रीवं पीतकौशेयवाससम् ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ

किरीटिनम्—मुकुट धारण किये भगवान्; कुण्डलिनम्—कुण्डल सहित; केयूर—रत्नजटित हार; वलय-अन्वितम्—रत्नजटित बाजूबन्द सहित; कौस्तुभ-आभरण-ग्रीवम्—जिनकी ग्रीवा (गर्दन) कौस्तुभ मणि से अलंकृत है; पीत-कौशेय-वाससम्—जो पीले रेशम का वस्त्र धारण किये हैं ।

पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् वासुदेव का सारा शरीर आभूषित है। वे बहुमूल्य मणिमय मुकुट, हार तथा बाजूबन्द धारण किये हुए हैं। उनकी गर्दन कौस्तुभ मणि से अलंकृत है और वे पीत रेशमी वस्त्र धारण किये हैं।

काञ्चीकलापपर्यस्तं लसत्काञ्चननूपुरम् ।
दर्शनीयतमं शान्तं मनोनयनवर्धनम् ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ

काञ्ची-कलाप—छोटे-छोटे घुंघुरू; पर्यस्तम्—कमर को घेरते हुए; लसत्-काञ्चन-नूपुरम्—सुनहले नूपुरों से अलंकृत पाँव; दर्शनीय-तमम्—अत्यन्त दर्शनीय; शान्तम्—शान्त, मौन; मनः-नयन-वर्धनम्—आँखों तथा मन को मोहने वाला ।

भगवान् का कटि-प्रदेश सोने की छोटी-छोटी घंटियों से अलंकृत है और उनके चरणकमल सुनहले नूपुरों से सुशोभित हैं। उनके सभी शारीरिक अंग अत्यन्त आकर्षक एवं नेत्रों को भाने वाले हैं। वे सदैव शान्त तथा मौन रहते हैं और नेत्रों तथा मन को अत्यधिक मोहनेवाले हैं।

पद्भ्यां नखमणिश्रेण्या विलसद्भ्यां समर्चताम् ।
हृत्पद्मकर्णिकाधिष्यमाक्रम्यात्मन्यवस्थितम् ॥ ५० ॥

शब्दार्थ

पद्भ्याम्—अपने चरणकमलों से; नख-मणि-श्रेण्या—पाँव के अँगूठे के मणि सदृश्य नाखूनों की ज्योति से; विलसद्भ्याम्—चमकते चरणकमल; समर्चताम्—उनकी पूजा में तत्पर पुरुष; हृत्-पद्म-कर्णिका—हृदय के कमल पुष्प का पुंज; अधिष्यम्—स्थित; आक्रम्य—पकड़कर, कब्जा करके; आत्मनि—हृदय में; अवस्थितम्—स्थित ।

वास्तविक योगी भगवान् के उस दिव्यरूप का ध्यान करते हैं जिसमें वे उनके हृदयरूपी कमल-पुंज में खड़े रहते हैं और उनके चरण-कमलों के मणितुल्य नाखून चमकते रहते हैं।

स्मयमानमभिध्यायेत्सानुरागावलोकनम् ।
नियतेनैकभूतेन मनसा वरदर्षभम् ॥ ५१ ॥

शब्दार्थ

स्मयमानम्—भगवान् की हँसी; अभिध्यायेत्—उनका ध्यान करे; स-अनुराग-अवलोकनम्—भक्तों की ओर अत्यन्त स्नेह से देखते हुए; नियतेन—इस प्रकार, नियमित रूप से; एक-भूतेन—अत्यन्त ध्यानपूर्वक; मनसा—मन-ही-मन; वर-द-ऋषभम्—श्रेष्ठ वरदायक का ध्यान करे।

भगवान् सदैव मुस्कराते रहते हैं और भक्त को चाहिए कि वह सदा इसी रूप में उनका दर्शन करता रहे, क्योंकि वे भक्तों पर कृपा-पूर्वक दृष्टि डालते हैं। इस प्रकार से ध्यानकर्ता को चाहिए कि वह समस्त वरों को देने वाले भगवान् की ओर निहारता रहे।

तात्पर्य : इस प्रसंग में *नियतेन* शब्द अत्यन्त सार्थक है, क्योंकि यह सूचित करता है कि उपर्युक्त निश्चित विधि से ही ध्यान किया जाये। मनुष्य को चाहिए कि वह श्री भगवान् के ध्यान की कोई नई विधि न गढ़े, वरन् प्रामाणिक शास्त्रों तथा महापुरुषों का अनुगमन करे। इस विधि से मनुष्य अपने मन को भगवान् में एकाग्र करने का अभ्यास तब तक करता रह सकता है जब तक कि वह इतना स्थिर न हो ले कि समाधि में रह कर निरन्तर भगवान् के स्वरूप के विषय में ही सोचता रहे। यहाँ पर प्रयुक्त *एकभूतेन* शब्द का अर्थ, “अत्यन्त ध्यान पूर्वक तथा मनोयोग से” है। यदि कोई भगवान् के शारीरिक स्वरूप पर केन्द्रित रहता है, तो उसकी अधोगति नहीं होती।

एवं भगवतो रूपं सुभद्रं ध्यायतो मनः ।

निर्वृत्या परया तूर्णं सम्पन्नं न निवर्तते ॥ ५२ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; भगवतः—भगवान् का; रूपम्—रूप; सु-भद्रम्—अत्यन्त कल्याणकारी; ध्यायतः—ध्यान करते हुए; मनः—मन; निर्वृत्या—समस्त भौतिक कल्मष से मुक्त होकर; परया—दिव्य; तूर्णम्—शीघ्र; सम्पन्नम्—सम्पन्न होकर; न—कभी नहीं; निवर्तते—नीचे आता है।

भगवान् के नित्य मंगलमय रूप में जो अपने मन को एकाग्र करते हुए इस प्रकार से ध्यान करता है, वह अतिशीघ्र ही समस्त भौतिक कल्मष से छूट जाता है और भगवान् के ध्यान की स्थिति से फिर लौटकर नीचे (मर्त्य-लोक) नहीं आता।

तात्पर्य : स्थिर ध्यान को *समाधि* कहते हैं, जैसाकि यहाँ वर्णन हुआ है। भगवान् की प्रेमाभक्ति में निरन्तर लगा रहने वाला व्यक्ति अपने ध्यान से विचलित नहीं हो सकता। मन्दिर में श्रीविग्रह के अर्चन के लिए *पांचरात्र* भक्ति पद्धति में जो *अर्चन-मार्ग* बताया गया है, उसमें भक्त निरन्तर भगवान् का चिन्तन करता है, यही *समाधि* है। जो इस प्रकार से अभ्यास करता है, वह भगवान् की सेवा से

विचलित नहीं होता और इससे वह मानव जीवन के उद्देश्य में सफल हो जाता है।

जपश्च परमो गुह्यः श्रूयतां मे नृपात्मज ।

यं सप्तरात्रं प्रपठन्पुमान्यश्यति खेचरान् ॥ ५३ ॥

शब्दार्थ

जपः च—इस सम्बन्ध में मंत्र का जाप; परमः—अत्यन्त; गुह्यः—गोपनीय; श्रूयताम्—सुनो; मे—मुझसे; नृप-आत्मज—हे राजपुत्र; यम्—जो; सप्त-रात्रम्—सात रात्रियाँ; प्रपठन्—जपता हुआ; पुमान्—पुरुष; पश्यति—देख सकता है; खे-चरान्—आकाश में चलने वाले प्राणियों को।

हे राजपुत्र, अब मैं तुम्हें वह मंत्र बताऊँगा जिसे इस ध्यान विधि के समय जपना चाहिए। जो कोई इस मंत्र को सात रात सावधानी से जपता है, वह आकाश में उड़ने वाले सिद्ध मनुष्यों को देख सकता है।

तात्पर्य : इस ब्रह्माण्ड के अन्तर्गत सिद्धलोक नामक एक लोक है। सिद्ध लोक के वासी स्वभावतः योग की सिद्धियों में पारंगत होते हैं। ये सिद्धियाँ आठ प्रकार की हैं, जिनके द्वारा मनुष्य सूक्ष्म से सूक्ष्म, हल्के से हल्का या विशाल से विशालतम हो सकता है; वह जो भी इच्छा करे उसे तुरन्त प्राप्त कर सकता है, यहाँ तक कि वह लोक की सृष्टि कर सकता है। कुछ सिद्धियाँ इस प्रकार हैं। *लघिमा सिद्धि* के द्वारा सिद्धलोक के वासी किसी वायुयान या विमान के बिना उड़ सकते हैं। यहाँ पर नारद मुनि ने ध्रुव महाराज से संकेत किया है कि भगवान् के दिव्य रूप का ध्यान और साथ ही मंत्र का जाप करते हुए मनुष्य सात दिनों में इतना सिद्ध हो सकता है कि वह आकाश में उड़ने वाले मनुष्यों को देख सकता है। नारद मुनि ने *जपः* शब्द का प्रयोग किया है, जो बताता है कि जिस मंत्र का जप किया जाना है, वह अत्यन्त गोपनीय है। कोई यह प्रश्न कर सकता है, “यदि यह गोपनीय है, तो फिर *श्रीमद्भागवत* में वह लिखित रूप में क्यों वर्णित है?” यह इस रूप में गोपनीय है—मनुष्य छपा हुआ मंत्र कहीं से प्राप्त कर सकता है, किन्तु जब तक यह दीर्घ शिष्य-परम्परा द्वारा स्वीकृत नहीं होता, तब तक वह मंत्र कार्य नहीं करता। प्रामाणिक सूत्रों का कहना है कि जब तक कोई मंत्र परम्परा से प्राप्त नहीं होता, तब तक उसकी कोई क्षमता नहीं होती।

इस श्लोक में एक अन्य बात स्थापित की गई है और वह है कि मंत्रोच्चारण के साथ-साथ ध्यान करना चाहिए। इस युग में हरे कृष्ण मंत्र का जाप ही ध्यान की सरलतम विधि है। ज्योंही कोई हरे

कृष्ण मंत्र का उच्चारण करता है, उसे कृष्ण, राम तथा उनकी शक्तियों के दर्शन होते हैं और समाधि की यही पूर्ण अवस्था है। मनुष्य को हरे कृष्ण मंत्र का जप करते समय बनावटी विधि से भगवान् के रूपदर्शन का प्रयत्न नहीं करना चाहिए, अपितु जब यह कीर्तन (जप) निर्दोषपूर्ण भाव से किया जाता है, तो भगवान् स्वतः कीर्तन करने वाले के समक्ष प्रकट हो जाएंगे। अतः जपकर्ता को शब्द तरंग सुनने में ध्यान केन्द्रित करना चाहिए। भगवान् बिना किसी अतिरिक्त प्रयास के ही स्वतः प्रकट होंगे।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय

मन्त्रेणानेन देवस्य कुर्याद्द्रव्यमयीं बुधः ।

सपर्या विविधैर्द्रव्यैर्देशकालविभागवित् ॥ ५४ ॥

शब्दार्थ

ॐ—हे भगवान्; नमः—नमस्कार है; भगवते—भगवान् को; वासुदेवाय—वासुदेव को; मन्त्रेण—मंत्र से; अनेन—इस; देवस्य—भगवान् का; कुर्यात्—करना चाहिए; द्रव्यमयीम्—भौतिक; बुधः—विद्वान्; सपर्याम्—वेदोक्त विधि से पूजा; विविधैः—अनेक प्रकार की; द्रव्यैः—सामग्री से; देश—स्थान के अनुसार; काल—समय; विभाग-वित्—विभागों को जानने वाला।

श्रीकृष्ण की पूजा का बारह अक्षर वाला मंत्र है—ॐ नमो भगवते वासुदेवाय। ईश्वर का विग्रह स्थापित करके उसके समक्ष मंत्रोच्चार करते हुए प्रामाणिक विधि-विधानों सहित मनुष्य को फूल, फल तथा अन्य खाद्य-सामग्रियाँ अर्पित करनी चाहिए। किन्तु यह सब देश, काल तथा साथ ही सुविधाओं एवं असुविधाओं का ध्यान रखते हुए करना चाहिए।

तात्पर्य : ॐ नमो भगवते वासुदेवाय को द्वादश अक्षर मन्त्र कहा जाता है। यह मंत्र वैष्णव भक्तों द्वारा जप किया जाता है और यह प्रणव अर्थात् ओंकार से प्रारम्भ होता है। ऐसा आदेश है कि जो ब्राह्मण नहीं हैं, वे इस प्रणव मंत्र का उच्चारण नहीं कर सकते, किन्तु ध्रुव महाराज तो जन्मजात क्षत्रिय थे। उन्होंने नारद मुनि के समक्ष तुरन्त स्वीकार किया कि क्षत्रिय होने के कारण वे नारद के त्याग तथा मन-सन्तुलन के उपदेश को स्वीकार नहीं कर सकते, क्योंकि ये तो ब्राह्मण के लिए हैं। तो भी ब्राह्मण न होते हुए भी नारद के आदेश से ध्रुव को प्रणव ओंकार उच्चारण करने की अनुमति मिल गई। यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। विशेषतः भारत में ब्राह्मण लोग अन्य जाति वालों के द्वारा प्रणव मंत्र का उच्चारण किये जाने पर विरोध करते हैं। किन्तु यहाँ पर सबल प्रमाण है कि जो व्यक्ति वैष्णव मंत्र अथवा देव पूजा की वैष्णव विधि को स्वीकार करता है उसे प्रणव मंत्र का जप करने दिया जाता है। भगवद्गीता में भगवान् स्वयं स्वीकार करते हैं कि चाहे जो कोई हो, भले ही वह निम्नयोनि का हो, यदि वह ठीक

से केवल पूजा ही करे तो वह उच्च पद को प्राप्त हो सकता है और भगवान् के धाम को वापस जा सकता है।

जैसाकि नारदमुनि ने बताया है प्रामाणिक नियम यह है कि मनुष्य को प्रामाणिक गुरु से मंत्र ग्रहण करना चाहिए और मंत्र दाहिने कान से सुनना चाहिए। न केवल उसे मंत्र को जपना या गुणगुनाना चाहिए वरन् अपने समक्ष श्रीविग्रह अथवा भगवान् के भौतिक रूप को रखना चाहिए। निस्सन्देह, जब भगवान् प्रकट होते हैं, तो यह भौतिक रूप नहीं रह पाता। उदाहरणार्थ, जब लोहे की छड़ को आग में तपाया जाता है, तो वह लोहा न रहकर आग हो जाता है। इसी प्रकार जब हम भगवान् का स्वरूप तैयार करते हैं—चाहे वह लकड़ी का हो या पत्थर, धातु, मणि या रंग का अथवा मानसिक हो—तो यह भगवान् का प्रामाणिक, आत्मिक, दिव्य रूप होता है। मनुष्य को न केवल नारद जैसे प्रामाणिक गुरु या परम्परा से उनके प्रतिनिधि द्वारा मंत्र ग्रहण करना चाहिए, वरन् मंत्र का जप भी करना चाहिए। उसे केवल जप ही नहीं करना होता, वरन् समय तथा सुविधा के अनुसार जगत के उस भाग (देश) में जो भी खाद्य-सामग्री उपलब्ध हो उसकी भेंट चढ़ानी चाहिए।

पूजा की विधि, जिसमें ही मंत्र का जप तथा भगवान् का स्वरूप (विग्रह) तैयार किया जाता है, घिसी-पिटी नहीं है और न ही सर्वत्र एकसमान है। इस श्लोक में स्पष्ट उल्लेख है कि देश, काल तथा सुविधा का ध्यान रखना चाहिए। हमारा कृष्णभावनामृत-आन्दोलन समग्र विश्व में चलाया जा रहा है और हम भी विभिन्न केन्द्रों में श्रीविग्रह (मूर्तियाँ) स्थापित करते हैं। कभी-कभी हमारे भारतीय मित्र आडम्बरपूर्ण विचारधारा के कारण आलोचना करते हैं “यह नहीं हुआ, वह नहीं हुआ।” किन्तु वे परम वैष्णव ध्रुव महाराज को नारद मुनि द्वारा दी गई शिक्षा को भूल जाते हैं। मनुष्य को देश, काल तथा सुविधा को ध्यान में रखना होगा। भारत में जो सुविधाजनक हो सकता है, वह पश्चिमी देशों में नहीं हो सकता। जो आचार्यों की पंक्ति में नहीं हैं, अथवा जिन्हें आचार्य की तरह कार्य करने का अनुभव नहीं है, वे वृथा ही भारत के बाहर कृष्णभावनामृत-आन्दोलन के कार्यों की आलोचना करते हैं। तथ्य यह है कि ऐसे आलोचक कृष्णचेतना के प्रसार में स्वयं कुछ नहीं कर सकते। यदि कोई बाहर जाता है और देश तथा काल को ध्यान में रखते हुए प्रचार करता है, तो सम्भावना है कि पूजा की

विधि में अन्तर आ जाये, किन्तु शास्त्रों के अनुसार यह किञ्चित्मात्र दोषपूर्ण नहीं है। रामानुज सम्प्रदाय की शिष्य-परम्परा के आचार्य श्रीमद् वीरराघव आचार्य ने अपनी टीका में लिखा है कि परिस्थितियों के अनुसार चण्डाल भी, जो शूद्रकुलों से भी निम्न हैं, दीक्षित किये जा सकते हैं। उन्हें वैष्णव बनाने के लिए औपचारिकताओं में यत्र-तत्र परिवर्तन किये जा सकते हैं।

भगवान् चैतन्य महाप्रभु की संस्तुति है कि भगवान् का नाम विश्व के कोने-कोने में सुनाई पड़े। भला जब तक कोई सर्वत्र जाकर उपदेश न दे, तब तक यह कैसे सम्भव है? भगवान् चैतन्य महाप्रभु का सम्प्रदाय *भागवत-धर्म* है और वे *कृष्ण-कथा* अथवा *भगवद्गीता* तथा *श्रीमद्भागवत* सम्प्रदाय की विशेष संस्तुति करते हैं। वे परोपकार की भावना से प्रत्येक भारतीय को विश्व के अन्य निवासियों तक भगवान् के सन्देश को ले जाने के लिए कहते हैं। “विश्व के अन्य निवासियों” का अर्थ ऐसे लोग नहीं हैं, जो भारतीय ब्राह्मणों या क्षत्रियों के ही समान हों या ब्राह्मण जाति के हों। यह नियम, कि केवल भारतीय तथा हिन्दू ही वैष्णव सम्प्रदाय में आ सकते हैं, भ्रान्तिपूर्ण विचार है। प्रत्येक मनुष्य को वैष्णव-सम्प्रदाय में लाए जाने का प्रचार होना चाहिए। इसी उद्देश्य से कृष्णभावनामृत-आन्दोलन चलाया गया है। इस आन्दोलन को ऐसे लोगों में भी जो चण्डाल, म्लेच्छ या यवन कुलों में उत्पन्न हैं, प्रसारित करने की मनाही नहीं है। यहाँ तक कि भारत में भी यह बात श्रील सनातन गोस्वामी ने अपनी पुस्तक *हरि-भक्ति-विलास* में कही है, जो एक स्मृति है और दैनिक व्यवहार के लिए वैष्णवों के लिए प्रामाणिक वैदिक पथप्रदर्शिका है। सनातन गोस्वामी कहते हैं कि जिस प्रकार रासायनिक प्रक्रिया से काँसा पारे से मिश्रित होने पर सोना बन सकता है, उसी प्रकार प्रामाणिक दीक्षा से कोई भी वैष्णव बन सकता है। मनुष्य को चाहिए गुरु शिष्य परम्परा में आने वाले प्रामाणिक गुरु से दीक्षा ग्रहण करनी चाहिए, जिसको उनके पहले के गुरु द्वारा प्रामाणित किया गया हो। यह दीक्षा विधान कहलाता है। *भगवद्गीता* में भगवान् कृष्ण ने *व्यपाश्रित्यः* अर्थात् गुरु स्वीकार करने के लिए कहा है। इस विधि से समग्र संसार को कृष्णभावनामृत में बदला जा सकता है।

सलिलैः शुचिभिर्माल्यैर्वन्यैर्मूलफलादिभिः ।

शस्ताङ्कु रांशुकैश्चाचैत्तुलस्या प्रियया प्रभुम् ॥ ५५ ॥

शब्दार्थ

सलिलैः—जल के प्रयोग से; शुचिभिः—पवित्र किया गया; माल्यैः—माला से; वन्यैः—जंगली फूलों से; मूल—जड़ों; फल-आदिभिः—नाना प्रकार की वनस्पतियों तथा फलों से; शस्त—दूर्वा (दूब); अङ्कुर—कलियाँ; अंशुकैः—वृक्षों की छाल, यथा भोज-पत्र से; च—तथा; अर्चैत्—पूजा करें; तुलस्या—तुलसी दलों से; प्रियया—जो भगवान् को अत्यन्त प्रिय; प्रभुम्—भगवान् को।

भगवान् की पूजा शुद्ध जल, शुद्ध पुष्प-माला, फल, फूल तथा जंगल में उपलब्ध वनस्पतियों या ताजे उगे हुए दूर्वादल एकत्र करके, फूलों की कलियों, अथवा वृक्षों की छाल से, या सम्भव हो तो भगवान् को अत्यन्त प्रिय तुलसीदल अर्पित करते हुए करनी चाहिए।

तात्पर्य : यहाँ विशेष उल्लेख हुआ है कि भगवान् को तुलसीदल अत्यन्त प्रिय हैं। भक्तों को चाहिए कि वे प्रत्येक मन्दिर तथा पूजाकेन्द्र में तुलसी दल ले जाना न भूलें। पश्चिमी देशों में कृष्णभावनामृत-आन्दोलन के प्रसार में हमें सबसे अधिक अप्रसन्नता इसलिए होती थी हमें तुलसी के दल कहीं प्राप्त नहीं होते थे। अतः हम अपनी शिष्या श्रीमती गोविन्द दासी के अत्यन्त अनुगृहीत हैं, उन्होंने बीजों से तुलसी वृक्ष उगाने का प्रयत्न किया जिसमें उन्हें भगवद्कृपा से सफलता प्राप्त हुई। अब हम प्रायः प्रत्येक केन्द्र में तुलसी के पौधे उगा रहे हैं।

श्रीभगवान् की पूजा विधि में तुलसीदल का अत्यधिक महत्त्व है। इस श्लोक में आये हुए सलिलैः शब्द का अर्थ है “जल से।” निस्सन्देह, ध्रुव महाराज यमुना के तट पर पूजा कर रहे थे। यमुना तथा गंगा पवित्र नदियाँ हैं और कभी-कभी भारत के भक्त लोग यमुना या गंगा जल से मूर्ति के पूजे जाने का आग्रह करते हैं। किन्तु यहाँ हम समझते हैं कि देश काल का अर्थ है, “काल तथा देश के अनुसार।” पश्चिमी देशों में न तो यमुना नदी है, न गंगा नदी, अतः ऐसी नदियों का जल नहीं मिल पाता। तो क्या इसका अर्थ यह हुआ कि जल के अभाव में अर्चना बन्द कर दी जाय? नहीं। सलिलैः का अर्थ है कोई भी जल—जो भी प्राप्त हो—किन्तु इसे स्वच्छ होना चाहिए और स्वच्छ ढंग से रखा गया होना चाहिए। ऐसा जल काम में लाया जा सकता है। अन्य सामग्रियाँ—यथा फूलों की माला, फल तथा वनस्पतियों को देश तथा उनकी उपलब्धि के अनुसार एकत्र किया जाना चाहिए। भगवान् को प्रसन्न करने के लिए तुलसीदल अत्यन्त आवश्यक हैं, अतः जहाँ तक सम्भव हो तुलसीदल उगाने के लिए व्यवस्था की जानी चाहिए। ध्रुव महाराज को जंगल में उपलब्ध फलों तथा फूलों से भगवान् की पूजा करने की सलाह दी गई। भगवद्गीता में श्रीकृष्ण स्पष्ट कहते हैं कि वे वनस्पतियाँ, फल, फूल सभी कुछ स्वीकार

करते हैं। यहाँ पर नारद मुनि ने जो कुछ कहा है उसके अतिरिक्त और कोई भी वस्तु भगवान् वासुदेव को नहीं अर्पित करनी चाहिए। स्वेच्छा से विग्रह पर कुछ नहीं चढ़ाना चाहिए। चूँकि फूल तथा फल विश्व में सर्वत्र उपलब्ध हैं, अतः इस छोटी सी बात के लिए सतर्क रहना चाहिए।

लब्ध्वा द्रव्यमयीमर्चा क्षित्यम्ब्व्वादिषु वार्चयेत् ।

आभृतात्मा मुनिः शान्तो यतवाङ्मितवन्यभुक् ॥ ५६ ॥

शब्दार्थ

लब्ध्वा—पाकर; द्रव्य-मयीम्—भौतिक तत्त्वों से बने; अर्चाम्—पूज्य विग्रह; क्षिति—पृथ्वी; अम्बु—जल; आदिषु—इत्यादि; वा—अथवा; अर्चयेत्—पूजा करे; आभृत-आत्मा—आत्मसंयमी; मुनिः—महापुरुष; शान्तः—शान्तिपूर्वक; यत-वाक्—वाग्शक्ति पर संयम रखते हुए; मित—थोड़ा; वन्य-भुक्—जंगल में प्राण्य सामग्री को खाकर।

यदि सम्भव हो तो मिट्टी, लुगदी, लकड़ी तथा धातु जैसे भौतिक तत्त्वों से बनी भगवान् की मूर्ति को पूजा जा सकता है। जंगल में मिट्टी तथा जल से मूर्ति बनाई जा सकती है और उपर्युक्त नियमों के अनुसार उसकी पूजा की जा सकती है। जो भक्त अपने ऊपर पूर्ण संयम रखता है, उसे अत्यन्त नम्र तथा शान्त होना चाहिए और जंगल में जो भी फल तथा वनस्पतियाँ प्राप्त हों उन्हें ही खाकर संतुष्ट रहना चाहिए।

तात्पर्य : भक्त के लिए यह अनिवार्य है कि भगवान् की मूर्ति की पूजा करे; ऐसा नहीं कि वह मात्र अपने मन में भगवान् के स्वरूप का ध्यान करता हुआ गुरु-प्रदत्त मंत्र का जाप करे। जिस रूप की पूजा की जाय, उसे उपस्थित होना चाहिए। निर्विशेषवादी ध्यान करने या निर्गुण की पूजा करने का वृथा श्रम उठाते हैं और यह मार्ग अत्यन्त कठिन है। हमें निर्विशेषवादियों की विधि के अनुसार भगवान् का धाम अथवा पूजा करने की सलाह नहीं दी गई है। ध्रुव महाराज के जंगल में होने के कारण मिट्टी तथा जल से बनी मूर्ति की उपासना करने के लिए कहा गया। यदि धातु, लकड़ी या पत्थर का स्वरूप तैयार न हो सके तो सर्वोत्तम विधि यही है कि मिट्टी तथा जल को मिलाकर स्वरूप तैयार कर ले और उसी की पूजा करे। भक्त को चाहिए कि वह भोजन पकाने के लिए चिन्तित न हो, जंगल में अथवा शहर में जो भी फल तथा वनस्पतियाँ उपलब्ध हों उन्हें ही श्रीविग्रह पर चढ़ाएँ और उन्हें ही खाकर सन्तुष्ट रहें। उसे स्वादिष्ट भोजन प्राप्त करने का इच्छुक नहीं होना चाहिए। निस्सन्देह, जहाँ भी सम्भव हो, श्रीविग्रह को अच्छा से अच्छा भोजन चढ़ाए, चाहे फल तथा वनस्पतियों में से हो या पकाया अथवा अनपकाया

भोजन हो। महत्वपूर्ण बात यह कि भक्त को नियमित (*मित्-भुक्*) होना चाहिए; यही भक्त का उत्तम गुण है। उसे अपनी जीभ के स्वाद की तुष्टि के लिए किसी विशेष भोजन के पीछे नहीं पड़ना चाहिए। भगवान् की कृपा से जो भी प्रसाद उपलब्ध हो उसे खाकर सन्तुष्ट रहना चाहिए।

स्वेच्छावतारचरितैरचिन्त्यनिजमायया ।

करिष्यत्युत्तमश्लोकस्तद्भ्यायेद्दृढयङ्गमम् ॥ ५७ ॥

शब्दार्थ

स्व-इच्छा—उनकी (भगवान की) परम इच्छा से; अवतार—अवतार; चरितैः—कार्यकलाप; अचिन्त्य—अकल्पनीय; निज-मायया—अपनी ही शक्ति से; करिष्यति—करता है; उत्तम-श्लोकः—भगवान्; तत्—वह; ध्यायेत्—ध्यान करना चाहिए; हृदयम्-गमम्—अत्यन्त आकर्षक।

हे ध्रुव, प्रतिदिन तीन बार मंत्र जप करने और श्रीविग्रह की पूजा के अतिरिक्त तुम्हें भगवान् के विभिन्न अवतारों के दिव्य कार्यों के विषय में भी ध्यान करना चाहिए, जो उनकी परम इच्छा तथा व्यक्तिगत शक्ति से प्रदर्शित होते हैं।

तात्पर्य : भक्ति की निर्दिष्ट विधियाँ नौ हैं—श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पूजन, सेवा, विग्रह को सर्वस्व समर्पण इत्यादि। यहाँ पर ध्रुव महाराज को सलाह दी गई है कि वे न केवल भगवान् के रूप का ध्यान करें, वरन् उनके विभिन्न अवतारों की दिव्य लीलाओं के विषय में भी चिन्तन करें। मायावादी दार्शनिक भगवान् के अवतारों को सामान्य जीवात्माओं के स्तर में मानते हैं। यह एक भारी भूल है। भगवान् के अवतार को प्रकृति के भौतिक नियमों के अनुसार कर्म करने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता है। यहाँ पर स्वेच्छा शब्द का प्रयोग यह सूचित करने के लिए किया गया है कि भगवान् अपनी परम इच्छा से प्रकट होते हैं। भगवान् द्वारा बद्धजीव को उसके कर्म के अनुसार प्रकृति के नियमों के अधीन दी गई विशेष देह को स्वीकार करने के लिए बाध्य किया जाता है। किन्तु जब भगवान् प्रकट होते हैं, तो उन पर भौतिक प्रकृति के नियम बलपूर्वक थोपे नहीं जा सकते। वे अपनी आन्तरिक शक्ति द्वारा इच्छानुसार प्रकट होते हैं। यही अन्तर है। बद्धजीव अपने कर्म तथा भौतिक प्रकृति की श्रेष्ठ सत्ता द्वारा दिया गया एक विशेष प्रकार का शरीर जैसे सुअर का शरीर स्वीकार करता है। किन्तु जब कृष्ण शूकर अवतार में प्रकट होते हैं, तो वे सामान्य पशु के रूप में सुअर नहीं होते। कृष्ण अत्यन्त विराट वराह अवतार के रूप में प्रकट होते हैं, जिसकी तुलना सामान्य सुअर से नहीं की जा सकती। उनका प्राकट्य तथा लोप

हमारे लिए अकल्पनीय हैं। *भगवद्गीता* में स्पष्ट कहा गया है कि वे अपनी अन्तरंगा शक्ति से भक्तों की रक्षा तथा अभक्तों के विनाश के लिए प्रकट होते हैं। भक्त को समझना चाहिए कि कृष्ण कभी सामान्य पुरुष या सामान्य पशु के रूप में प्रकट नहीं होते। वराह मूर्ति या घोड़ा अथवा कछुवा रूप में उनका प्राकट्य उनकी अन्तरंगा शक्ति का प्रदर्शन है। *ब्रह्म-संहिता* में कहा गया है *आनन्द-चिन्मय-रस-प्रतिभाविताभिः* मनुष्य को भगवान् के प्राकट्य को प्रकृति के नियमों से प्रेरित किसी पशु, मनुष्य अथवा देवता के रूप में जन्म, साधारण बद्धजीव की भाँति मानव प्राणी या पशु नहीं मान लेना चाहिए। ऐसा सोचना अपराधपूर्ण है। भगवान् चैतन्य महाप्रभु ने मायावादियों की भर्त्सना भगवान् के प्रति अपराधपूर्ण होने के कारण की है, क्योंकि वे यह सोचते हैं कि भगवान् तथा बद्ध जीवात्माएँ एक ही जैसे हैं।

नारद ने ध्रुव को उपदेश दिया कि वे भगवान् की लीलाओं का ध्यान करें, क्योंकि यह भगवान् के रूप पर अपने मन को केन्द्रित करके ध्यान करने के ही तुल्य है। भगवान् के किसी भी रूप का ध्यान जितना उपयोगी है, उतना ही भगवान् के विभिन्न नामों यथा हरि, गोविन्द तथा नारायण नामों का जप करना है। किन्तु इस युग में हमें शास्त्रों में बताए गए; हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण हरे हरे, हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे हरे, मंत्र का जप करने का विशेष उपदेश दिया गया है।

परिचर्या भगवतो यावत्यः पूर्वसेविताः ।

ता मन्त्रहृदयेनैव प्रयुञ्ज्यान्मन्त्रमूर्तये ॥ ५८ ॥

शब्दार्थ

परिचर्या:—सेवा; भगवतः—भगवान् की; यावत्यः—जिस रूप में (उपर्युक्त) संस्तुत हैं; पूर्व-सेविताः—पूर्व आचार्यों द्वारा कृत अथवा संस्तुत; ताः—वह; मन्त्र—मंत्र; हृदयेन—हृदय के भीतर; एव—निश्चय ही; प्रयुञ्ज्यात्—पूजा करे; मन्त्र-मूर्तये—जो मंत्र से अभिन्न है।

संस्तुत सामग्री द्वारा परमेश्वर की पूजा किस प्रकार की जाये, इसके लिए मनुष्य को चाहिए कि पूर्व-भक्तों के पद-चिह्नों का अनुसरण करे अथवा हृदय के भीतर ही मंत्रोच्चार करके भगवान् की, पूजा करे जो मंत्र से भिन्न नहीं हैं।

तात्पर्य : यहाँ यह संस्तुति की गई है कि यदि कोई बताई गई समस्त सामग्री से भगवान् के रूपों की पूजा-व्यवस्था नहीं कर सकता तो उसे चाहिए कि वह भगवान् के स्वरूप और शास्त्रों द्वारा वर्णित

सभी वस्तुओं को मन से प्रदान करे जिसमें जल, चन्दन-लेप, शंख, छत्र, पंखा तथा चामर सम्मिलित हैं। इनका अर्पण करते समय ध्यान धरा जाये और बारह अक्षर के मंत्र ॐ नमो भगवते वासुदेवाय का जप किया जाय। चूँकि मंत्र तथा भगवान् अभिन्न हैं, अतः भौतिक सामग्रियों के अभाव में भगवान् की पूजा मंत्र द्वारा करे। इस प्रसंग में उस ब्राह्मण की कथा को देखना चाहिए जिसने मन के भीतर भगवान् की पूजा की, जैसाकि भक्ति-रसामृत-सिन्धु में वर्णित है। यदि सामग्री उपस्थित न रहे तो उसके विभिन्न अवयवों का चिन्तन करके मंत्रोच्चार द्वारा श्रीविग्रह को अर्पित करे। भक्तियोग की ये सुविधाएँ अत्यन्त सरल व शक्तिसम्पन्न हैं।

एवं कायेन मनसा वचसा च मनोगतम् ।

परिचर्यमाणो भगवान्भक्तिमत्परिचर्यया ॥ ५९ ॥

पुंसाममायिनां सम्यग्भजतां भाववर्धनः ।

श्रेयो दिशत्यभिमतं यद्धर्मादिषु देहिनाम् ॥ ६० ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; कायेन—शरीर से; मनसा—मन से; वचसा—शब्दों से; च—भी; मनः-गतम्—भगवान् के चिन्तन मात्र से; परिचर्यमाणः—भक्ति में लगे हुए; भगवान्—भगवान्; भक्ति-मत्—भक्ति के नियमों के अनुसार; परिचर्यया—भगवान् की पूजा द्वारा; पुंसाम्—भक्त का; अमायिनाम्—जो एकनिष्ठ तथा गम्भीर है; सम्यक्—पूर्णरूप से; भजताम्—भक्ति में लगा हुआ; भाव-वर्धनः—जो भक्त के भाव को बढ़ाते हैं, भगवान्, श्रेयः; श्रेयः—अन्तिम उद्देश्य; दिशति—प्रदान करता है; अभिमत्—आकांक्षा; यत्—यावत् रूप; धर्म-आदिषु—आध्यात्मिक जीवन तथा आर्थिक विकार के विषय में; देहिनाम्—बद्धजीवों का।

इस प्रकार जो कोई गम्भीरता तथा निष्ठा से अपने मन, वचन तथा शरीर से भगवान् की भक्ति करता है और जो बताई गई भक्ति-विधियों के कार्यों में मग्न रहता है, उसे उसकी इच्छानुसार भगवान् वर देते हैं। यदि भक्त भौतिक संसार में धर्म, अर्थ, काम या भौतिक संसार से मोक्ष चाहता है, तो भगवान् इन फलों को प्रदान करते हैं।

तात्पर्य : भक्ति इतनी सभम होती है कि जो भक्ति करता है, वह भगवान् से मनचाहा वर प्राप्त कर सकता है। बद्धजीव इस भौतिक जगत में बहुत लिप्त रहते हैं और धार्मिक कृत्य करके वे धर्म तथा अर्थ का भौतिक लाभ उठाना चाहते हैं।

विरक्तश्चेन्द्रियरतौ भक्तियोगेन भूयसा ।

तं निरन्तरभावेन भजेताद्धा विमुक्तये ॥ ६१ ॥

शब्दार्थ

विरक्तः च—पूर्णतया विरक्त; इन्द्रिय-रतौ—इन्द्रिय-तृप्ति के विषय में; भक्ति-योगेन—भक्ति की पद्धति से; भूयसा—अत्यन्त गम्भीरता से; तम्—उस (परम) को; निरन्तर—लगातार; भावेन—समाधि की सर्वोच्च अवस्था में; भजेत—पूजा करे; अद्धा—प्रत्यक्ष; विमुक्तये—मुक्ति के लिए।

यदि कोई मुक्ति के लिए अत्यन्त उत्सुक हो तो उसे दिव्य प्रेमाभक्ति की पद्धति का दृढ़ता से पालन करके चौबीसों घंटे समाधि की सर्वोच्च अवस्था में रहना चाहिए और उसे इन्द्रियतृप्ति के समस्त कार्यों से अनिर्वायतः पृथक् रहना चाहिए।

तात्पर्य : विभिन्न व्यक्तियों के उद्देश्यों के अनुसार सिद्धि की विभिन्न अवस्थाएँ हैं। सामान्यतः मनुष्य कर्मी होते हैं, क्योंकि वे इन्द्रियतृप्ति के कार्यों में लगे रहते हैं। कर्मियों से ऊपर ज्ञानी हैं, जो भौतिक बन्धन से मुक्त होने का प्रयत्न करते रहते हैं। योगी इनसे भी अधिक उच्चस्थ हो चुके होते हैं, क्योंकि वे भगवान् के चरणकमलों का ध्यान करते रहते हैं। और इन सबसे ऊपर भक्तजन हैं, जो केवल भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति करते हैं। वे समाधि के उच्चतम पद पर गम्भीरता से स्थित होते हैं।

यहाँ पर ध्रुव महाराज को उपदेश दिया गया है कि यदि उनमें इन्द्रियतृप्ति के लिए कोई इच्छा नहीं है, तो उन्हें सीधे भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में लग जाना चाहिए। *अपवर्ग* अर्थात् मुक्ति का मार्ग, मोक्ष नामक अवस्था से प्रारम्भ होती है। इस श्लोक में *विमुक्तये* शब्द अर्थात् 'मुक्ति के लिए' विशेष रूप से आया है। यदि मनुष्य इस भौतिक जगत में प्रसन्न रहना चाहता है, तो वह ऐसे विभिन्न भौतिक लोकों में जाने की इच्छा व्यक्त कर सकता है जहाँ इन्द्रियतृप्ति का स्तर अधिक ऊँचा हो—किन्तु वास्तविक मोक्ष तो बिना किसी आकांक्षा के ही प्राप्त होता है। इसकी व्याख्या *भक्तिरसामृत-सिन्धु* में *अन्याभिलाषिता शून्यम्* पद, अर्थात् " भौतिक इन्द्रिय सुख की आकांक्षा से रहित " से की गई है।" जो व्यक्ति अब भी विभिन्न अवस्थाओं में या लोकों में भौतिक जीवन भोगना चाहते हैं, उनके लिए भक्तियोग में मुक्ति की अवस्था की संस्तुति नहीं की जाती है। जो लोग पूरी तरह इन्द्रियतृप्ति के कल्मष से मुक्त हैं, वे अत्यन्त शुद्धतापूर्वक भक्तियोग करते हैं। *अपवर्ग* के मार्ग की धर्म, अर्थ तथा काम तक की क्रियाएँ सब इन्द्रियतृप्ति के लिए होती हैं, किन्तु जब मनुष्य *मोक्ष* की अवस्था को प्राप्त होता है, तो अभ्यास करनेवाला भगवान् के साथ तादात्म्य करना चाहता है। किन्तु वह भी इन्द्रियतृप्ति है। किन्तु जब मनुष्य मुक्ति अवस्था से ऊपर उठता है, तो वह दिव्य प्रेमाभक्ति करने के लिए भगवान्

के पार्षदों में से एक बन जाता है। यह पारिभाषिक रूप में *विमुक्ति* कहलाती है। इस विशिष्ट *विमुक्ति* के लिए नारद मुनि की संस्तुति है कि मनुष्य सीधे भक्ति में लग जाए।

इत्युक्तस्तं परिक्रम्य प्रणम्य च नृपार्थकः ।
ययौ मधुवनं पुण्यं हरेश्चरणचर्चितम् ॥ ६२ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; उक्तः—कहा गया; तम्—उसको (नारद मुनि को); परिक्रम्य—प्रदक्षिणा करके; प्रणम्य—नमस्कार करके; च—भी; नृप-अर्थकः—राजा का पुत्र; ययौ—पास गया; मधुवनम्—वृन्दावन का एक जंगल जो मधुवन कहलाता है; पुण्यम्—शुभ; हरेः—भगवान् का; चरण-चर्चितम्—श्रीकृष्ण के चरणकमल द्वारा अंकित।

जब राजपुत्र ध्रुव महाराज को नारद मुनि इस प्रकार उपदेश दे रहे थे तो उन्होंने अपने गुरु नारद मुनि की प्रदक्षिणा की और उन्हें सादर नमस्कार किया। तत्पश्चात् वे मधुवन के लिए चल पड़े, जहाँ श्रीकृष्ण के चरणकमल सदैव अंकित रहते हैं, अतः जो विशेष रूप से शुभ है।

तपोवनं गते तस्मिन्प्रविष्टोऽन्तःपुरं मुनिः ।
अर्हिताहर्णको राज्ञा सुखासीन उवाच तम् ॥ ६३ ॥

शब्दार्थ

तपः-वनम्—वह वन मार्ग जहाँ ध्रुव महाराज ने तपस्या की; गते—इस प्रकार पास जाने पर; तस्मिन्—वहाँ; प्रविष्टः—प्रवेश करके; अन्तः-पुरम्—व्यक्तिगत घर के भीतर; मुनिः—नारद मुनि; अर्हित—पूजित होकर; अहर्णकः—आदरपूर्ण आचरण के द्वारा; राज्ञा—राजा द्वारा; सुख-आसीनः—अपने आसन पर सुखपूर्वक बैठा; उवाच—कहा; तम्—उस (राजा) से।

जब ध्रुव भक्ति करने के लिए मधुवन में प्रविष्ट हो गए तब महर्षि नारद ने राजा के पास जाकर यह देखना उचित समझा कि वे महल के भीतर कैसे रह रहे हैं। जब नारद मुनि वहाँ पहुँचे तो राजा ने उन्हें प्रणाम करके उनका समुचित स्वागत किया। आराम से बैठ जाने पर नारद कहने लगे।

नारद उवाच

राजन्किं ध्यायसे दीर्घं मुखेन परिशुष्यता ।
किं वा न रिष्यते कामो धर्मो वार्थेन संयुतः ॥ ६४ ॥

शब्दार्थ

नारदः उवाच—नारद मुनि ने कहा; राजन्—हे राजा; किम्—क्या; ध्यायसे—सोचते हुए; दीर्घम्—अत्यन्त गहनता से; मुखेन—अपने मुँह से; परिशुष्यता—सूखते हुए; किम् वा—अथवा; न—नहीं; रिष्यते—खो जाना; कामः—इन्द्रियतृप्ति; धर्मः—धार्मिक अनुष्ठान; वा—या; अर्थेन—आर्थिक विकास से; संयुतः—से युक्त।

महर्षि नारद ने पूछा : हे राजन्, तुम्हारा मुख सूख रहा दिखता है और ऐसा लगता है कि तुम दीर्घकाल से कुछ सोचते रहे हो। ऐसा क्यों है? क्या तुम्हें धर्म, अर्थ तथा काम के मार्ग का पालन करने में कोई बाधा हुई है?

तात्पर्य : मानव सभ्यता की उन्नति की चार अवस्थाएँ हैं—धर्म, अर्थ, काम तथा कुलों के लिए मोक्ष। नारद मुनि ने राजा से उसकी मुक्ति के विषय में कुछ नहीं पूछा, बस इतना ही पूछा कि राज्य का प्रबन्ध कैसा है, जो तीन सिद्धान्तों के उन्नति के लिए हैं। चूँकि ऐसे कर्म करने वाले कभी मुक्ति में रुचि नहीं रखते, इसीलिए नारद ने राजा से इसके विषय में कुछ नहीं कहा। मुक्ति तो उन लोगों के लिए है जिन्होंने धार्मिक कृत्यों, आर्थिक विकास तथा इन्द्रियतृप्ति के प्रति सारी रुचि खो दी है।

राजोवाच

सुतो मे बालको ब्रह्मन्स्त्रैणोनाकरुणात्मना ।

निर्वासितः पञ्चवर्षः सह मात्रा महान्कविः ॥ ६५ ॥

शब्दार्थ

राजा उवाच—राजा ने उत्तर दिया; सुतः—पुत्र; मे—मेरा; बालकः—अल्प वयस वाला; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण; स्त्रैणेन—स्त्री में लिप्त रहने वाला; अकरुणा-आत्मना—कठोर हृदय; निर्वासितः—घर से निकाला गया; पञ्च-वर्षः—पाँच वर्ष का बालक; सह—साथ; मात्रा—माता द्वारा; महान्—महापुरुष; कविः—भक्त।

राजा ने उत्तर दिया : हे ब्राह्मणश्रेष्ठ, मैं अपनी पत्नी में अत्यधिक आसक्त हूँ और मैं इतना पतित हूँ कि मैंने अपने पाँच वर्ष के बालक के प्रति भी दया भाव के व्यवहार का त्याग कर दिया। मैंने उसे महात्मा तथा महान् भक्त होते हुए भी माता सहित निर्वासित कर दिया है।

तात्पर्य : इस श्लोक में अनेक विशिष्ट शब्द आये हैं, जिन्हें ध्यानपूर्वक समझना होगा। राजा ने कहा कि अपनी पत्नी में लिप्त होने के कारण उसने दया करनी छोड़ दी। यह पत्नी के प्रति अत्यधिक आसक्ति के कारण हुआ। राजा के दो पत्नियाँ थीं—पहली पत्नी सुनीति और दूसरी सुरुचि। वह दूसरी पत्नी को अधिक चाहता था, अतः उसने ध्रुव महाराज के साथ अच्छा व्यवहार नहीं किया। ध्रुव द्वारा घर छोड़कर तपस्या करने का यही कारण था। यद्यपि पिता होने के कारण राजा पुत्र को भी चाहता था, किन्तु अपनी दूसरी पत्नी के प्रति अत्यधिक आसक्ति के कारण ध्रुव महाराज के प्रति प्रेम कुछ कम था। अब वह पश्चात्ताप कर रहा था कि उसने ध्रुव महाराज तथा उसकी माता सुनीति को एक प्रकार से

घर से निकाल दिया था। ध्रुव महाराज तो जंगल चले गये, किन्तु उनकी माता राजा से उपेक्षित होकर एक प्रकार से निर्वासित कर दी गई थीं। राजा को पश्चात्ताप हो रहा था कि उसने अपने पाँच वर्ष के पुत्र को निकाल दिया था। पिता को चाहिए कि वह पुत्र तथा पत्नी को न तो निर्वासित करे, न उनके भरण-पोषण में लापरवाही बरते। दोनों की उपेक्षा करने के कारण राजा अत्यन्त दुखी था और उसका मुख मुरझाया हुआ था। *मनुस्मृति* के अनुसार मनुष्य को अपनी पत्नी तथा बच्चों का कभी परित्याग नहीं करना चाहिए। हाँ, यदि वे आज्ञाकारी न हों और गृहस्थ जीवन के नियमों का पालन न करें तो कभी-कभी उनका परित्याग कर दिया जाता है। किन्तु ध्रुव महाराज के साथ ऐसा न था। वे अत्यन्त शिष्ट तथा आज्ञाकारी थे, साथ ही महान् भक्त भी। ऐसे व्यक्ति की उपेक्षा नहीं होनी चाहिए, किन्तु राजा ने बाध्य होकर उसे निर्वासित कर दिया था। अब वह अत्यन्त दुखी था।

अप्यनाथं वने ब्रह्मन्मा स्मादन्त्यर्भकं वृकाः ।

श्रान्तं शयानं क्षुधितं परिम्लानमुखाम्बुजम् ॥ ६६ ॥

शब्दार्थ

अपि—निश्चय ही; अनाथम्—अरक्षित; वने—जंगल में; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण; मा—अथवा, नहीं; स्म—नहीं; अदन्ति—भक्षण किया; अर्भकम्—निरीह बालक; वृकाः—भेड़िये; श्रान्तम्—थका हुआ; शयानम्—लेटा हुआ; क्षुधितम्—भूखा; परिम्लान—मुरझाया; मुख-अम्बुजम्—कमल के समान मुख।

हे ब्राह्मण, मेरे पुत्र का मुख कमल के फूल के समान था। मैं उसकी दयनीय दशा के विषय में सोच रहा हूँ। वह असुरक्षित और अत्यन्त भूखा होगा। वह जंगल में कहीं लेटा होगा और भेड़ियों ने झपट करके उसका शरीर काट खा लिया होगा।

अहो मे बत दौरात्म्यं स्त्रीजितस्योपधारय ।

योऽङ्कं प्रेम्णारुरुक्षन्तं नाभ्यनन्दमसत्तमः ॥ ६७ ॥

शब्दार्थ

अहो—ओह; मे—मेरा; बत—निश्चय ही; दौरात्म्यम्—क्रूरता; स्त्री-जितस्य—स्त्री का गुलाम; उपधारय—जरा सोचो तो; यः—जो; अङ्कम्—गोद; प्रेम्णा—प्रेमवश; आरुरुक्षन्तम्—चढ़ने को इच्छुक; न—नहीं; अभ्यनन्दम्—उचित ढंग से आदर; असत्तमः—अत्यन्त क्रूर।

अहो! जरा देखिये तो मैं कैसा स्त्री का गुलाम हूँ! जरा मेरी क्रूरता के विषय में तो सोचिये! वह बालक प्रेमवश मेरी गोद में चढ़ना चाहता था, किन्तु मैंने न तो उसको आने दिया, न उसे

एक क्षण भी दुलारा। जरा सोचिये कि मैं कितना कठोर-हृदय हूँ!

नारद उवाच

मा मा शुचः स्वतनयं देवगुप्तं विशाम्पते ।
तत्प्रभावमविज्ञाय प्रावृद्धे यद्यशो जगत् ॥ ६८ ॥

शब्दार्थ

नारदः उवाच—नारद मुनि ने कहा; मा—मत; मा—मत; शुचः—दुखी होओ; स्व-तनयम्—अपने पुत्र के लिए; देव-गुप्तम्—भगवान् द्वारा भली-भाँति रक्षित; विशाम्-पते—हे मानव समाज के स्वामी; तत्—उसका; प्रभावम्—प्रभाव; अविज्ञाय—बिना जाने; प्रावृद्धे—चारों ओर फैला; यत्—जिसका; यशः—ख्याति; जगत्—संसार भर में।

महर्षि नारद ने उत्तर दिया: हे राजन्, तुम अपने पुत्र के लिए शोक मत करो। वह भगवान् द्वारा पूर्ण रूप से रक्षित है। यद्यपि तुम्हें उसके प्रभाव के विषय में सही-सही जानकारी नहीं है, किन्तु उसकी ख्याति पहले ही संसार भर में फैल चुकी है।

तात्पर्य : कभी-कभी जब हम यह सुनते हैं कि बड़े-बड़े साधु तथा भक्त जंगल में जाकर भक्ति या ध्यान करते हैं, तो हमें आश्चर्य होता है कि कोई बिना किसी की देखभाल के जंगल में कैसे रह सकता है? किन्तु इसका जो उत्तर नारद मुनि देते हैं, वह यह है कि ऐसे व्यक्तियों के रक्षक भगवान् हैं। शरणागति या आत्मसमर्पण का अर्थ है स्वीकृति अथवा दृढ़ विश्वास कि शरणागत जीव जहाँ कहीं भी होगा श्रीभगवान् उसकी रक्षा करेंगे, वह कभी अरक्षित या अकेला नहीं होगा। ध्रुव के वत्सल पिता ने सोचा कि उसका छोटा बालक, जो अभी केवल पाँच वर्ष का है, जंगल में दयनीय स्थिति में होगा, किन्तु नारद मुनि ने उसे विश्वास दिलाया और कहा, “तुम्हें अपने पुत्र के प्रभाव के बारे में ठीक से जानकारी नहीं है।” जो कोई भी भक्ति करता है, वह इस विश्व में कहीं भी कभी अरक्षित नहीं रहता।

सुदुष्करं कर्म कृत्वा लोकपालैरपि प्रभुः ।
ऐष्यत्यचिरतो राजन्यशो विपुलयंस्तव ॥ ६९ ॥

शब्दार्थ

सु-दुष्करम्—न कर सकने योग्य; कर्म—कार्य; कृत्वा—करके; लोक-पालैः—महापुरुषों द्वारा; अपि—भी; प्रभुः—अत्यन्त समर्थ; ऐष्यति—लौटेगा; अचिरतः—शीघ्र ही; राजन्—हे राजा; यशः—कीर्ति; विपुलयन्—बढ़ाते हुए; तव—तुम्हारी।

हे राजन्, तुम्हारा पुत्र अत्यन्त समर्थ है। वह ऐसे कार्य करेगा जो बड़े-बड़े राजा तथा साधु भी नहीं कर पाते। वह शीघ्र ही अपना कार्य पूरा करके घर वापस आएगा। तुम यह भी जान लो

कि वह तुम्हारी ख्याति को सारे संसार में फैलाएगा।

तात्पर्य : इस श्लोक में नारद मुनि ने ध्रुव महाराज को प्रभु कहा है। यह शब्द भगवान् के लिए प्रयुक्त होता है। कभी-कभी गुरु को प्रभुपाद कह कर सम्बोधित किया जाता है। प्रभु का अर्थ है “भगवान्” और पाद का अर्थ है “स्थान।” वैष्णवदर्शन के अनुसार गुरु भगवान् का स्थान ग्रहण करता है अर्थात् वह भगवान् का प्रामाणिक प्रतिनिधि है। ध्रुव महाराज को भी यहाँ पर प्रभु कहा गया है, क्योंकि वे वैष्णव विचारधारा के आचार्य हैं। प्रभु का दूसरा अर्थ है, “इन्द्रियों का स्वामी।” एक अन्य महत्त्वपूर्ण शब्द है सुदुष्करम्—“कर पाना अत्यन्त कठिन।” आखिर वह कौन सा कार्य था, जो ध्रुव कर रहे थे? जीवन का सबसे कठिन काम है भगवान् को प्रसन्न कर पाना और ध्रुव महाराज ऐसा कर दिखाने वाले थे। हमें स्मरण रखना चाहिए कि ध्रुव महाराज चल-चित्त व्यक्ति न थे; वे सेवा करने के लिए दृढ़प्रतिज्ञ थे और उसके बाद वापस आनेवाले थे। अतः प्रत्येक भक्त को यह संकल्प करना चाहिए कि इस जीवन में वह भगवान् को प्रसन्न कर सकेगा और इस प्रकार भगवान् के धाम को वापस जाएगा। यही जीवन के सर्वोच्च उद्देश्य की पूर्ति है।

मैत्रेय उवाच

इति देवर्षिणा प्रोक्तं विश्रुत्य जगतीपतिः ।

राजलक्ष्मीमनादृत्य पुत्रमेवान्वचिन्तयत् ॥ ७० ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय ने कहा; इति—इस प्रकार; देवर्षिणा—नारद मुनि द्वारा; प्रोक्तम्—कहा गया; विश्रुत्य—सुनकर; जगती-पतिः—राजा; राज-लक्ष्मीम्—राज्य का ऐश्वर्य; अनादृत्य—परवाह किये बिना; पुत्रम्—अपना पुत्र; एव—निश्चय ही; अन्वचिन्तयत्—सोचने लगा।

मैत्रेय मुनि ने आगे कहा : नारद मुनि से उपदेश प्राप्त करने के बाद राजा उत्तानपाद ने अपने अत्यन्त विशाल एवं ऐश्वर्यमय राज्य के सारे कार्य छोड़ कर दिये और केवल अपने पुत्र ध्रुव के विषय में ही सोचने लगा।

तत्राभिषिक्तः प्रयतस्तामुपोष्य विभावरीम् ।

समाहितः पर्यचरदृष्ट्यादेशेन पूरुषम् ॥ ७१ ॥

शब्दार्थ

तत्र—तत्पश्चात्; अभिषिक्तः—स्नान करने के पश्चात्; प्रयतः—ध्यानपूर्वक; ताम्—उस; उपोष्य—उपवास करके; विभावरीम्—रात्रि; समाहितः—पूर्ण ध्यान से; पर्यचरत्—पूजा की; ऋषि—नारद ऋषि द्वारा; आदेशेन—आदेश के अनुसार; पूरुषम्—भगवान् की।

इधर, ध्रुव महाराज ने मधुवन पहुँचकर यमुना नदी में स्नान किया और उस रात्रि को अत्यन्त मनोयोग से उपवास किया। तत्पश्चात् वे नारद मुनि द्वारा बताई गई विधि से भगवान् की आराधना में मग्न हो गये।

तात्पर्य : इस विशिष्ट श्लोक की महत्ता यह है कि ध्रुव महाराज ने अपने गुरु महर्षि नारद द्वारा बताई गई विधि के अनुसार कार्य किया। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती का भी यही उपदेश है कि यदि हम भगवान् के धाम को वापस जाने में सफल होना चाहते हैं, तो हमें गुरु के आदेशों के अनुसार गम्भीरतापूर्वक कार्य करना चाहिए। सिद्धि का यही मार्ग है। सिद्धि-प्राप्ति के विषय में तनिक भी चिन्ता नहीं होनी चाहिए, क्योंकि जो गुरु के आदेशों का पालन करता है, वह अवश्य ही सिद्धि प्राप्त करता है। हमारी एकमात्र चिन्ता यह होनी चाहिए कि गुरु के आदेश को कैसे पूरा किया जाय। गुरु अपने प्रत्येक शिष्य को विशेष आदेश देने में दक्ष होता है और यदि शिष्य उस आदेश को कार्य रूप में परिणत कर देता है, तो वही सिद्धि का मार्ग है।

त्रिरात्रान्ते त्रिरात्रान्ते कपित्थबदराशनः ।

आत्मवृत्त्यनुसारेण मासं निन्येऽर्चयन्हरिम् ॥ ७२ ॥

शब्दार्थ

त्रि—तीन; रात्र-अन्ते—रात बीतने पर; त्रि—तीन; रात्र-अन्ते—रात बीतने पर; कपित्थ-बदर—कैथा तथा बेर; अशनः—खाते हुए; आत्म-वृत्ति—शरीर पालने के लिए निर्वाह; अनुसारेण—आवश्यक या न्यूनतम; मासम्—एक माह; निन्ये—बीत गया; अर्चयन्—पूजा करते; हरिम्—भगवान् की।

ध्रुव महाराज ने पहले महीने में अपने शरीर की रक्षा (निर्वाह) हेतु हर तीसरे दिन केवल कैथे तथा बेर का भोजन किया और इस प्रकार से वे भगवान् की पूजा को आगे बढ़ाते रहे।

तात्पर्य : कपित्थ एक फल है, जो हिन्दी में कैथा कहलाता है। इसके फल प्रायः बन्दर खाते हैं, इसे मनुष्य कम ही खाते हैं। किन्तु ध्रुव महाराज ने स्वाद की तृप्ति के लिए नहीं वरन शरीर के निर्वाह के लिए ऐसे फलों को ग्रहण करना स्वीकार किया। शरीर को भोजन चाहिए, किन्तु भक्त को चाहिए कि जीभ की तुष्टि के लिए भोजन न करे। भगवद्गीता में आदेश है कि शरीर को स्वस्थ रखने भर के

लिए ही भोजन किया जाय, विलास के लिए नहीं। ध्रुव महाराज आचार्य थे, किन्तु तपस्या करके वे हमें शिक्षा देना चाहते थे कि भक्ति किस प्रकार की जाये। हमें ध्रुव महाराज की भक्ति-प्रक्रिया को भली-भाँति समझना चाहिए। उन्होंने कितने कष्ट से दिन बिताये, यह अगले श्लोकों में बताया जाएगा। हमें यह सदैव स्मरण रखना होगा कि भगवान् का प्रामाणिक भक्त बनना कोई सरल कार्य नहीं, किन्तु इस युग में, भगवान् चैतन्य की कृपा से यह सरल हो गया है। किन्तु यदि हम चैतन्य महाप्रभु के उदार आदेशों का भी पालन नहीं कर सकते तो हम भक्ति के नियमित कर्तव्यों को करने की आशा कैसे कर सकते हैं? इस युग में ध्रुव महाराज के तप का अनुसरण कर पाना कठिन है, किन्तु नियमों का पालन होना चाहिए। हमें चाहिए कि गुरुओं द्वारा बताये गये विधि-विधानों का उल्लंघन न करें क्योंकि वे बद्धजीव के लिए इन्हें सरल बता देते हैं। जहाँ तक हमारे *इस्कान* आन्दोलन का सम्बन्ध है, हम केवल यही कहते हैं कि मनुष्य चार निषेधात्मक नियमों का पालन करे, सोलह माला जप करे और जीभ को स्वाद में न लगा कर भगवान् को प्रदत्त एकमात्र प्रसाद ही ग्रहण करे। इसका यह अर्थ नहीं है कि यदि हम उपवास करें तो भगवान् भी उपवास करें। भगवान् को अच्छा से अच्छा भोग चढ़ाएँ, किन्तु हमारा उद्देश्य अपने स्वाद की पूर्ति करना नहीं होना चाहिए। जहाँ तक सम्भव हो सादा भोजन ग्रहण करें, जिससे भक्ति करने के लिए शरीर निर्वाह हो सके।

हमारा कर्तव्य है कि हम यह सदा स्मरण रखें कि ध्रुव महाराज की तुलना में हम नगण्य हैं। उन्होंने आत्म-साक्षात्कार के लिए जो कुछ किया उसे कर पाना हमारे लिए नितान्त असम्भव है क्योंकि हम ऐसी सेवा करने में अक्षम हैं। किन्तु इस युग के लिए हमें चैतन्य महाप्रभु ने सभी प्रकार की छूट दे रखी हैं, अतः हम इतना तो स्मरण रखें कि भक्ति हेतु कर्तव्यों को न करने से हमारे उद्देश्य की पूर्ति नहीं हो सकती। हमारा परम कर्तव्य है कि हम ध्रुव महाराज के चरण-चिह्नों का अनुसरण करें, क्योंकि वे अत्यन्त दृढ़व्रत थे। हमें भी इस जीवन में भक्ति करने के लिए अपने कार्यों को पूरा करने का व्रत लेना चाहिए; हमें इस कार्य को पूरा करने के लिए दूसरे जीवन की प्रतीक्षा नहीं करनी चाहिए।

द्वितीयं च तथा मासं षष्ठे षष्ठेऽर्भको दिने ।

तृणपर्णादिभिः शीर्णैः कृतान्नोऽभ्यर्चयन्विभुम् ॥ ७३ ॥

शब्दार्थ

द्वितीयम्—अगले मास; च—भी; तथा—उपयुक्त विधि से; मासम्—माह; षष्ठे षष्ठे—प्रत्येक छह दिन पर; अर्भकः—अबोध बालक; दिने—दिने में; तृण-पर्ण-आदिभिः—घास-पात से; शीर्णैः—शुष्क; कृत-अन्नः—अन्न के रूप में; अभ्यर्चयन्—और इस प्रकार पूजा करता रहा; विभुम्—भगवान् के लिए।

दूसरे महीने में महाराज ध्रुव छह-छह दिन बाद खाने लगे। शुष्क घास तथा पत्ते ही उनके खाद्य पदार्थ थे। इस प्रकार उन्होंने अपनी पूजा चालू रखी।

तृतीयं चानयन्मासं नवमे नवमेऽहनि ।

अब्भक्ष उत्तमश्लोकमुपाधावत्समाधिना ॥ ७४ ॥

शब्दार्थ

तृतीयम्—तीसरे महीने; च—भी; आनयन्—बीतने पर; मासम्—एक महीना; नवमे नवमे—प्रत्येक नवें; अहनि—दिन में; अप्-भक्षः—केवल जल पीकर; उत्तम-श्लोकम्—भगवान्, जिनकी आराधना चुने हुए श्लोकों से की जाती है; उपाधावत्—पूजा की; समाधिना—समाधि में।

तीसरे महीने में वे प्रत्येक नवें दिन केवल जल ही पीते। इस प्रकार वे पूर्ण रूप से समाधि में रहते हुए पुण्यश्लोक भगवान् की पूजा करते रहे।

चतुर्थमपि वै मासं द्वादशे द्वादशेऽहनि ।

वायुभक्षो जितश्वासो ध्यायन्देवमधारयत् ॥ ७५ ॥

शब्दार्थ

चतुर्थम्—चौथे; अपि—भी; वै—उस प्रकार; मासम्—माह; द्वादशे द्वादशे—प्रति बारहवें; अहनि—दिन में; वायु—हवा; भक्षः—खाकर; जित-श्वासः—श्वास क्रिया को वश में करके; ध्यायन्—ध्यान करते हुए; देवम्—परमेश्वर की; आधारयत्—पूजा की।

चौथे महीने में ध्रुव महाराज प्राणायाम में पटु हो गये और इस प्रकार प्रत्येक बारहवें दिन वायु को श्वास से भीतर ले जाते। इस प्रकार अपने स्थान पर पूर्ण रूप से स्थिर होकर उन्होंने भगवान् की पूजा की।

पञ्चमे मास्यनुप्राप्ते जितश्वासो नृपात्मजः ।

ध्यायन्ब्रह्म पदैकेन तस्थौ स्थाणुरिवाचलः ॥ ७६ ॥

शब्दार्थ

पञ्चमे—पाँचवें; मासि—महीने में; अनुप्राप्ते—स्थित होकर; जित-श्वासः—तब भी श्वास को नियंत्रित करके; नृप-आत्मजः—राजा का पुत्र; ध्यायन्—ध्यान करता हुआ; ब्रह्म—भगवान्; पदा एकेन—एक पाँव से; तस्थौ—खड़ा रहा; स्थाणुः—ठूँठ के; इव—समान; अचलः—स्थिर, जड़।

पाँचवें महीने में राजपुत्र महाराज ध्रुव ने श्वास रोकने पर ऐसा नियंत्रण प्राप्त कर लिया कि

वे एक ही पाँव पर खड़े रहने में समर्थ हो गए, मानो कोई अचल ढूँठ हो। इस प्रकार उन्होंने परब्रह्म में अपने मन को केन्द्रित कर लिया।

सर्वतो मन आकृष्य हृदि भूतेन्द्रियाशयम् ।
ध्यायन्भगवतो रूपं नाद्राक्षीत्किञ्चनापरम् ॥ ७७ ॥

शब्दार्थ

सर्वतः—सभी प्रकार से; मनः—मन को; आकृष्य—केन्द्रित करके; हृदि—हृदय में; भूत-इन्द्रिय-आशयम्—इन्द्रियों के आश्रय तथा विषयों; ध्यायन्—ध्यान करते हुए; भगवतः—भगवान् का; रूपम्—रूप, आकार; न अद्राक्षीत्—नहीं देखा; किञ्चन—कुछ भी; अपरम्—अन्य।

उन्होंने अपनी इन्द्रियों तथा उनके विषयों पर पूर्ण नियंत्रण प्राप्त कर लिया और इस तरह अपने मन को चारों ओर से खींच कर भगवान् के रूप पर स्थिर कर दिया।

तात्पर्य : यहाँ पर ध्यान के यौगिक नियमों की स्पष्ट व्याख्या की गई है। मनुष्य को मन अन्यत्र न लगाकर भगवान् के स्वरूप पर स्थिर करना होता है। इसका यह अर्थ नहीं कि किसी निर्गुण वस्तु में ध्यान केन्द्रित किया जाये या उसका ध्यान किया जाये। ऐसा करना समय का अपव्यय मात्र है, क्योंकि यह अनावश्यक रूप से कष्टदायक है जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है।

आधारं महदादीनां प्रधानपुरुषेश्वरम् ।
ब्रह्म धारयमाणस्य त्रयो लोकाश्चकम्पिरे ॥ ७८ ॥

शब्दार्थ

आधारम्—आश्रय; महत्-आदीनाम्—समस्त भौतिक सृष्टि आदि, महत्-तत्त्व; प्रधान—मुख्य; पुरुष-ईश्वरम्—सभी जीवात्माओं का स्वामी; ब्रह्म—परब्रह्म परमेश्वर; धारयमाणस्य—हृदय में धारण करके; त्रयः—तीनों; लोकाः—लोक; चकम्पिरे—हिलने लगे।

इस प्रकार जब ध्रुव महाराज ने समग्र भौतिक सृष्टि के आश्रय तथा समस्त जीवात्माओं के स्वामी भगवान् को अपने वश में कर लिया तो तीनों लोक हिलने लगे।

तात्पर्य : इस श्लोक में *ब्रह्म* शब्द महत्त्वपूर्ण है। *ब्रह्मन्* का अर्थ है, वह जो न केवल सबसे महान् है, वरन् जिसमें विस्तार की असीम शक्ति है। ध्रुव महाराज ब्रह्म को अपने हृदय में किस प्रकार आबद्ध कर सके? इस प्रश्न का उत्तर जीव गोस्वामी ने बहुत अच्छे ढंग से दिया है। उनका कथन है कि भगवान् ही ब्रह्म के मूल हैं, क्योंकि भौतिक अथवा आध्यात्मिक सब कुछ उनमें समाहित है, अतः

उनसे बड़ा कोई नहीं है। *भगवद्गीता* में भी परमेश्वर कहते हैं, “मैं ब्रह्म का आश्रय हूँ।” अनेक पुरुष, विशेष रूप से मायावादी दार्शनिक, ब्रह्म को महानतम सर्व-प्रसरण-वस्तु मानते हैं, किन्तु इस श्लोक से तथा *भगवद्गीता* जैसे अन्य वैदिक साहित्य से प्रकट है कि ब्रह्म का आश्रय भगवान् हैं, जिस प्रकार कि सूर्य प्रकाश का आश्रय सूर्य का गोलक है। अतः श्रील जीव गोस्वामी कहते हैं कि भगवान् का दिव्य रूप समस्त महानता का बीज है, अतः वह परब्रह्म है। चूँकि परब्रह्म ध्रुव महाराज के हृदय में विद्यमान थे, अतः वे गुरुतम से भी बढ़कर हो गये। इसीलिए उनके भार से तीनों लोक तथा वैकुण्ठ लोक की सारी वस्तुएँ हिलने लगीं।

महत्-तत्त्व ही समस्त ब्रह्माण्डों की, जिसमें सभी जीवात्माएँ हैं, चरम परिणति है। ब्रह्म इस महत्-तत्त्व का आश्रय है। इस सम्बन्ध में कहा गया है कि परब्रह्म *प्रधान* तथा *पुरुष* दोनों का स्वामी है। *प्रधान* का अर्थ है सूक्ष्म पदार्थ, यथा आकाश; तथा *पुरुष* का अर्थ है जीवात्माएँ जो सूक्ष्म भौतिक जगत में आकर फँस गई हैं; इन्हें *परा प्रकृति* तथा *अपरा प्रकृति* भी कह सकते हैं, जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है। कृष्ण ही दोनों प्रकृतियों के नियन्ता हैं, अतः वे *प्रधान* तथा *पुरुष* के स्वामी हैं। वैदिक मंत्रों में भी परब्रह्म को *अन्तः-प्रविष्टः शास्ता* कहा कहा है। इससे यह सूचित होता है कि श्रीभगवान् प्रत्येक वस्तु में प्रवेश करने वाले तथा प्रत्येक वस्तु पर नियंत्रण रखने वाले हैं। *ब्रह्म संहिता* से (५.६५) भी इसकी पुष्टि होती है। *अण्डान्तरस्थ परमाणुचयान्तरस्थ*—उसका न केवल ब्रह्माण्डों में, वरन् प्रत्येक परमाणु में प्रवेश है। *भगवद्गीता* (१०.४२) में कृष्ण यह भी कहते हैं—*विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नम्*। भगवान् प्रत्येक वस्तु में प्रवेश करके उसका नियमन करते हैं। अपने हृदय में परम पुरुष के निरन्तर साहचर्य से ध्रुव महाराज ब्रह्म के समान हो गये और इस प्रकार सबसे भारी हो गये जिससे सारा ब्रह्माण्ड काँपने लगा। निष्कर्षतः ऐसा व्यक्ति जो सदा अपने हृदय में कृष्ण के दिव्य रूप का ध्यान करता है, वह अपने कार्यों से सारे विश्व को चकित कर सकता है। यही योग की सिद्धि है, जैसाकि *भगवद्गीता* (६.४७) में पुष्टि हुई है—*योगिनामपि सर्वेषाम्*—सभी योगियों में भक्तियोगी सर्वश्रेष्ठ है, क्योंकि वह अपने हृदय में श्रीकृष्ण का निरन्तर चिन्तन करता है और दिव्य प्रेमाभक्ति में लगा रहता है। सामान्य योगी आश्चर्यजनक भौतिक कार्य कर सकते हैं, जिन्हें अष्ट सिद्धि कहा जाता है, किन्तु भगवान्

का शुद्ध भक्त इन सिद्धियों से बढ़कर ऐसे कार्य कर सकता है, जिससे सारा ब्रह्माण्ड दहल जाय।

यदैकपादेन स पार्थिवार्भक-

स्तस्थौ तद्द्रुष्टनिपीडिता मही ।

ननाम तत्रार्धमिभेन्द्रधिष्ठिता

तरीव सव्येतरतः पदे पदे ॥ ७९ ॥

शब्दार्थ

यदा—जब; एक—एक; पादेन—पाँव से; सः—ध्रुव महाराज; पार्थिव—राजा का; अर्भकः—बालक; तस्थौ—खड़ा रहा; तत्-अद्रुष्ट—उनके अँगूठे से; निपीडिता—दब कर; मही—पृथ्वी; ननाम—नीचे झुकी; तत्र—तब; अर्धम्—आधा; इभ-इन्द्र—हाथियों का राजा; धिष्ठिता—स्थित; तरी इव—नाव के समान; सव्य-इतरतः—दाहिने तथा बाएँ; पदे पदे—पग-पग पर।

जब राजपुत्र ध्रुव महाराज अपने एक पाँव पर अविचलित भाव से खड़े रहे तो उनके पाँव के भार से आधी पृथ्वी उसी प्रकार नीचे चली गई जिस प्रकार कि हाथी के चढ़ने से (पानी में) उस के प्रत्येक कदम से नाव कभी दाएँ हिलती है, तो कभी बाएँ।

तात्पर्य : इस श्लोक का सबसे महत्त्वपूर्ण पद *पार्थिवार्भकः* अर्थात् राजा का पुत्र है। जब ध्रुव घर पर थे तो राजपुत्र होते हुए भी वे अपने पिता की गोद में चढ़ने से रोक दिये गये थे। किन्तु जब वे आत्म-साक्षात्कार अथवा भक्ति में आगे बढ़ गये तो वे अपने अँगूठे के भार से पृथ्वी को दबा सकते थे। सामान्य चेतना तथा कृष्णचेतना का यही अन्तर है। सामान्य चेतना में राजा के पुत्र को भी उसका पिता किसी वस्तु के लिए मना कर सकता है, किन्तु जब वही व्यक्ति हृदय में कृष्णचेतना से युक्त हो जाता है, तो अपने अँगूठे की दाब से पृथ्वी को धकेल सकता है।

कोई यह तर्क नहीं कर सकता “वही ध्रुव जिन्हें पिता की गोद में चढ़ने से मना कर दिया गया था सारी पृथ्वी को किस प्रकार हिला सकते थे?” इस तर्क को विद्वान् पसन्द नहीं करते, क्योंकि यह *नग्नमातृका* तर्कशास्त्र का उदाहरण है। इस तर्क से कोई यह सोच सकता है कि चूँकि माता बचपन में नंगी रहती थी, इसलिए उसे तरुण होने पर भी नंगी रहना चाहिए। ध्रुव महाराज की विमाता इसी प्रकार सोचती रही होगी, क्योंकि उसने ध्रुव को पिता की गोद में नहीं चढ़ने दिया था, अतः वह अब क्यों मानने लगी कि ध्रुव के भार से पूरी धरती हिलने लगी? वह अवश्य ही अत्यधिक आश्चर्यचकित हुई होगी जब उसने जाना होगा कि भगवान् का निरन्तर ध्यान धरने से ध्रुव महाराज पृथ्वी को उसी प्रकार दबा सकते थे, जिस प्रकार नाव पर चढ़ने पर हाथी नाव को दबाता है।

तस्मिन्नभिध्यायति विश्वमात्मनो

द्वारं निरुध्यासुमनन्यया धिया ।

लोका निरुच्छ्वासनिपीडिता भृशं

सलोकपालाः शरणं ययुर्हरिम् ॥ ८० ॥

शब्दार्थ

तस्मिन्—ध्रुव महाराज; अभिध्यायति—पूर्ण मनोयोग से ध्यान करते हुए; विश्वम् आत्मनः—ब्रह्माण्ड का पूर्ण शरीर; द्वारम्—दरवाजे, छेद; निरुध्यास—बन्द करके; असुम्—प्राण वायु; अनन्यया—अविचल भाव से; धिया—ध्यान; लोकाः—सभी लोक; निरुच्छ्वास—श्वास लेना रोककर; निपीडिताः—दम घुटने से; भृशम्—शीघ्र; स-लोक-पालाः—विभिन्न लोकों के समस्त देवता; शरणम्—शरण; ययुः—ग्रहण की; हरिम्—भगवान् की।

जब ध्रुव महाराज गुरुता में भगवान् विष्णु अर्थात् समग्र चेतना से एकाकार हो गये तो उनके पूर्ण रूप से केन्द्रीभूत होने तथा शरीर के सभी छिद्रों के बन्द हो जाने से सारे विश्व की साँस घुटने लगी और सभी लोकों के समस्त बड़े-बड़े देवताओं का दम घुटने लगा। अतः वे भगवान् की शरण में आये।

तात्पर्य : जब सैकड़ों व्यक्ति किसी विमान में बैठे रहते हैं, तो वे व्यष्टि होकर भी हजारों मील की चाल से उड़ने वाले वायुयान के वेग में हिस्सा बँटाते हैं, इसी प्रकार जब हम इकाई शक्ति को समग्र शक्ति के परिप्रेक्ष्य में देखते हैं, तो इकाई शक्ति समग्र शक्ति के बराबर शक्तिमान हो जाती है। जैसा कि पिछले श्लोक में बताया गया है अपनी आत्मोन्नति के कारण ध्रुव महाराज में समग्र गुरुता आ गई जिससे सारी पृथ्वी दब गई। ऐसी आध्यात्मिक शक्ति से उनका व्यष्टि शरीर ब्रह्माण्ड का समग्र शरीर बन गया। अतः जब उन्होंने अपने मन को भगवान् में दृढ़ता से लगाने के लिए शरीर के सारे छिद्र बन्द कर लिये तो ब्रह्माण्ड की सारी इकाईयाँ—समस्त जीवात्माएँ जिनमें बड़े-बड़े देवता भी सम्मिलित हैं—भार के कारण घुटन का अनुभव करने लगीं। अतः वे सब भगवान् की शरण में आये, क्योंकि उनकी समझ में नहीं आ रहा था कि यह क्या हो गया ?

ध्रुव महाराज द्वारा अपने शरीर के छेदों को बन्द करना और उससे सारे ब्रह्माण्ड के श्वास-द्वारों का रुद्ध होना एक ऐसा उदाहरण है, जो यह बताता है कि भक्त अपनी व्यक्तिगत भक्ति से सारे विश्व के लोगों को प्रभावित करके उन्हें भगवान् का भक्त बना सकता है। शुद्ध कृष्ण-चेतना से युक्त चाहे एक ही शुद्ध भक्त क्यों न हो वह सारे विश्व की चेतना को कृष्ण-चेतना में बदल सकता है। यदि हम ध्रुव

महाराज के चरित्र को पढ़ें तो इसे समझ पाना जरा भी कठिन नहीं होगा।

देवा ऊचुः

नैवं विदामो भगवन्प्राणरोधं

चराचरस्याखिलसत्त्वधाम्नः ।

विधेहि तन्नो वृजिनाद्विमोक्षं

प्राप्ता वयं त्वां शरणं शरण्यम् ॥ ८१ ॥

शब्दार्थ

देवाः ऊचुः—देवताओं ने कहा; न—नहीं; एवम्—इस प्रकार; विदामः—हम समझ पाते हैं; भगवन्—हे भगवान्; प्राण-रोधम्—रुद्ध हुआ श्वास; चर—चलता हुआ; अचरस्य—अचल का; अखिल—विश्वजनीन; सत्त्व—अस्तित्व; धाम्नः—आगार; विधेहि—कृपा करके जो आवश्यक हो करें; तत्—अतः; नः—हमारा; वृजिनात्—संकट से; विमोक्षम्—उद्धार; प्राप्ताः—निकट आता; वयम्—हम सभी; त्वाम्—तुमको; शरणम्—शरण; शरण्यम्—शरण ग्रहण की जाने योग्य।

देवताओं ने कहा : हे भगवान्, आप समस्त जड़ तथा चेतन जीवात्माओं के आश्रय हैं। हमें लग रहा है कि सभी जीवों का दम घुट रहा है और उनकी श्वास-क्रिया अवरुद्ध हो गई है। हमें ऐसा अनुभव कभी नहीं हुआ। आप सभी शरणागतों के चरम आश्रय हैं, अतः हम आपके पास आये हैं। कृपया हमें इस संकट से उबारिये।

तात्पर्य : भगवान् की भक्ति के फलस्वरूप प्राप्त ध्रुव महाराज के प्रभाव का अनुभव देवताओं को भी हो रहा था, जिन्होंने इसके पूर्व कभी ऐसा अनुभव नहीं किया था। ध्रुव महाराज के श्वास रोक लिये जाने पर सारे संसार की श्वास-क्रिया रुद्ध हो गई। भगवान् की इच्छा न हो तो भौतिक जीव श्वास नहीं ले पाते जबकि दिव्य आत्माएँ श्वास ले सकती हैं। भौतिक जीव तो भगवान् की बहिरंगा शक्ति के प्रतिफल हैं, जबकि दिव्य आत्माएँ अन्तरंगा शक्ति के। देवतागण दोनों प्रकार के जीवों के नियन्ता भगवान् के पास यह जानने के लिए गये कि उनके श्वास क्यों रुद्ध हो रहे हैं। इस जगत में सभी प्रकार की समस्याओं के हल के लिए परमेश्वर अन्तिम लक्ष्य हैं। आध्यात्मिक जगत में कोई समस्या नहीं रहती, किन्तु भौतिक जगत तो समस्याओं से भरा हुआ है। चूँकि भगवान् दोनों जगतों के स्वामी हैं, अतः समस्याएँ उत्पन्न होने पर उन्हीं के पास पहुँचना श्रेयस्कर है। जो भक्त हैं, उनके पास इस जगत में कोई समस्या नहीं है। *विश्वं पूर्णसुखायते (चैतन्य चरितामृत)*—भक्तगण समस्त समस्याओं से मुक्त हैं क्योंकि वे भगवान् के पूर्ण शरणागत हैं। भक्त के लिए इस संसार में प्रत्येक वस्तु अत्यन्त आनन्द-दायक है, क्योंकि उसको वह भगवान् की दिव्य भक्ति के लिए उपयोग में लाना जानता है।

श्रीभगवानुवाच
 मा भैष्ट बालं तपसो दुरत्यया-
 निवर्तयिष्ये प्रतियात स्वधाम ।
 यतो हि वः प्राणनिरोध आसी-
 दौत्तानपादिर्मयि सङ्गतात्मा ॥ ८२ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने उत्तर दिया; मा भैष्ट—मत डरो; बालम्—बालक ध्रुव; तपसः—कठिन तपस्या से; दुरत्ययात्—दृढ़ निश्चय; निवर्तयिष्ये—रोकने के लिए कहूँगा; प्रतियात—तुम जा सकते हो; स्व-धाम—अपने घर; यतः—जिससे; हि—निश्चय ही; वः—तुम्हारा; प्राण-निरोधः—प्राण वायु का अवरोध; आसीत्—हुआ; औत्तानपादिः—राजा उत्तानपाद के पुत्र के कारण; मयि—मुझको; सङ्गत-आत्मा—मेरे विचार में पूरी तरह लीन।

श्रीभगवान् ने उत्तर दिया : हे देवो, तुम इससे विचलित न होओ। यह राजा उत्तानपाद के पुत्र की कठोर तपस्या तथा दृढ़निश्चय के कारण हुआ है, जो इस समय मेरे चिन्तन में पूर्णतया लीन है। उसी ने सारे ब्रह्माण्ड की श्वास क्रिया को रोक दिया है। तुम लोग अपने-अपने घर सुरक्षापूर्वक जा सकते हो। मैं उस बालक को कठिन तपस्या करने से रोक दूँगा तो तुम इस परिस्थिति से उबर जाओगे।

तात्पर्य : यहाँ पर प्रयुक्त एक शब्द *संगतात्मा* का अर्थ मायावादी दार्शनिकों द्वारा गलत ढंग से लगाया गया है। वे कहते हैं कि ध्रुव महाराज का आत्म परमेश्वर के परम आत्म से एक हो गया। वे इस शब्द द्वारा यह सिद्ध करना चाहते हैं कि इस प्रकार परमात्मा तथा व्यष्टि आत्मा संयुक्त हो जाते हैं और ऐसे एकीकरण के पश्चात् व्यष्टि आत्मा का पृथक् अस्तित्व नहीं रह जाता। किन्तु यहाँ पर भगवान् ने स्पष्ट कहा है कि ध्रुव महाराज उनके ध्यान में इस प्रकार लीन थे कि विश्व चेतना स्वरूप वे स्वयं ध्रुव की ओर आकृष्ट हो गये। देवों को प्रसन्न करने के लिए वे स्वयं ध्रुव महाराज के पास जाकर उनको कठोर तपस्या से रोकना चाहते थे। मायावादी दार्शनिकों के इस कथन से इस निष्कर्ष की पुष्टि नहीं होती कि परमात्मा तथा आत्मा एकाकार हो जाते हैं। अपितु परमात्मा भगवान् ने ध्रुव महाराज को इस कठिन तपस्या से रोकना चाहा।

भगवान् को प्रसन्न कर लेने से सभी को प्रसन्न किया जा सकता है, उसी प्रकार जिस तरह कि पौधे की जड़ को सींच कर टहनी, पत्ती इत्यादि को तुष्ट किया जाता है। यदि मनुष्य भगवान् को अपनी ओर आकृष्ट कर सके तो स्वाभाविक है कि सारा संसार आकर्षित हो सकता है, क्योंकि कृष्ण ही सारे

ब्रह्माण्ड के कारणस्वरूप हैं। सभी देवता श्वासरोध से पूरी तरह मिट जाने के भय से आशंकित थे, किन्तु भगवान् ने विश्वास दिलाया कि ध्रुव महाराज भगवान् के परम भक्त हैं, वे ब्रह्माण्ड का संहार करने नहीं जा रहे। भक्त कभी भी अन्य जीवात्माओं से द्वेष नहीं करता।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के चतुर्थ स्कन्ध के अन्तर्गत “ध्रुव महाराज का गृहत्याग और वनगमन” नामक आठवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।